भारतीय मनोविज्ञान

चक्र

भारतीय मनोविज्ञान

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

आनन्द कानन प्रकाशन

प्रकाशक :
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्द कानन
सीके० ३६/२०.
वाराणसी-१
फोन : २६८३

मूल्य : एक रुपया मात्र

प्रथमावृत्ति
मार्च : १९६८

मुद्रक :
ज्वालाप्रसाद मिश्र
आनन्द कानन प्रेस
सीके० ३६/२०, वाराणसी-१

विषय क्रम

★

दो शब्द

निःसन्देह हिन्दी साहित्यके विशाल भण्डारमें मनोवैज्ञानिक पुस्तकोंकी कोई कमी नहीं। सच तो यह कि आये दिन इस विषयपर अनेक ग्रन्थ, जिसमें कितने ही नव-नव शोधपूर्ण और विशालकाय भी होते हैं, प्रकाशन आ रहे हैं और आये हैं। किन्तु उन सबका समग्र अवलोकन और आकलन सर्वसाधारणके लिए सम्भव और सुगम नहीं। यही सोचकर 'आनन्दकाननप्रकाशन' अपने प्रथम पुष्पके रूपमें शब्दोंमें स्वल्पकाय पर भाव-अर्थमें गम्भीर 'भारतीय मनोविज्ञान' को प्रकाशितकर अपने प्रकाशनका श्रीगणेश कर रहा है।

यों तो यह पुस्तक बीस वर्ष पूर्व ही लिखी गयी, किन्तु मनोविज्ञानकी अद्यतनीय उपलब्धियोंकी सम्पूर्ण सम्भवनाएँ लेखककी क्रान्तिदर्शी प्रतिभासे किसी भी प्रकार अछूती नहीं रह पायी है, कहना होगा कि यह पुस्तक अपने ढंगकी अनूठी है, जिसका प्रमाण पाठक ही अपने अनुभवसे करेंगे। दो-एक बातें और! बहिर्मन, अन्तर्मन निर्णायकमन एवं सञ्चालकमन, मनके ये चार भाग क्रमशः मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकारके ही अपर पर्याय हैं। ऐसा होते हुए भी इनकी कार्य-शैलीपर लेखकने अपने ढंगसे विचार प्रस्तुत किये हैं। इस विचार-धाराको समझनेमें कठिनाई न हो, एतदर्थ यह नवीन नामकरण किया गया है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान अन्तर्मन एवं बहिर्मन ये दो विभाग मानकर मनस्तत्त्वका विश्लेषण करता है। उसका उद्देश्य भौतिक अन्वेषण तक सीमित है, किन्तु भारतीय मनोवैज्ञानिक स्पष्टतः अपूर्णता देखता है। भारतीय मनोविज्ञान उसे मनो-निरोध द्वारा शाश्वत शान्तिकी ओर प्रवाहित करता है। अत-एव उसके विश्लेषणमें विभिन्नताका होना स्वाभाविक ही है। इस दिशामें लेखकका यह प्रयास निश्चय ही सफल, श्लाघ्य एवं आदर्शपूर्ण है। एकबार पुस्तक पढ़ना आरम्भकर बीचमें उसे छोड़नेको जी ही नहीं चाहता। अब हम इसकी कसौटी पाठकोंपर ही छोड़ रहे हैं।

नव सम्वत्सर २०२५ **—विश्वम्भरनाथ द्विवेदी**

मन क्या है ?

: १ :

हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं, छूते हैं, सूंघते हैं, रस लेते हैं तथा कर्म करते हैं, उन कर्मोंकी प्रवृत्ति जहांसे आती है, जो उनका स्मरण रखता है और जो उनके अच्छे बुरेका निर्णय करता है, उसे मन कहते हैं। कार्य-भेदसे इसी मनके चार भेद शास्त्रोंमें किये गये हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। संकल्प विकल्पात्मक वृत्तियों को मन कहते हैं, निर्णयात्मक वृत्तियोंको बुद्धि कहते हैं, संस्कारात्मक वृत्तियोंको चित्त कहते हैं, और अहंकारात्मक वृत्तियोंको अहंकार कहते हैं।

पाश्चात्य सिद्धान्तमें मनके दो या तीन भाग किये गये हैं। अन्तर्मन और बहिर्मन अथवा सैलानी और मुकामी मन। तीसरे भागको वे नियन्ता-मन कहते हैं। (इन सबकी व्याख्या अगले अध्यायोंमें की जायेगी।) जो व्यक्ति कोई भी मानसिक-साधना करना चाहता है, उसे प्रथम मनोविज्ञानको भलीप्रकार समझ लेना चाहिये।

शास्त्रकारोंने मन अणुके बराबर बतलाया है और

उसका निवास हृदय-देशमें कहा है। मनको प्रभावित करनेके लिये हृदय देशमें ध्यान करना अत्यन्त श्रेष्ठ रहता है। हृदयसे सीधा सम्बन्ध केवल मस्तिष्कका रहता है। मस्तिष्कसे दो प्रकारके शिरोजाल शरीरमें फैले हुये हैं। इनका फैलाव इतना सघन है कि शरीरमें सुईकी नोक-बराबर भी स्थान इनसे खाली नहीं। इनमेंसे एक प्रकारके तन्तु संवेदन-वाहक होते हैं, किसी भी प्रकारका जब हम कोई विषय सम्पर्कमें लाते हैं, तो ये तन्तु उसकी सूचना मस्तिष्कमें पहुँचा देते हैं। दूसरे प्रकारके तन्तु आज्ञा-वाहक होते हैं। कोई भी संवेदन मस्तिष्कमें पहुँचनेपर वह उसे हृदयतक पहुँचाता है और हृदयसे मिली मनकी आज्ञाको आज्ञावाहक तन्तुओंके द्वारा अंगों तक पहुँचा देता है। यह सब कार्य इतना शीघ्र होता है कि हम उसमें अन्तरकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

मस्तिष्कके अतिरिक्त इन ज्ञान-तन्तुओंके मेरु-दण्डमें तथा कई और स्थानोंमें भी छोटे-छोटे केन्द्र हैं। कभी-कभी शीघ्र आवश्यकता होनेपर इन केन्द्रोंसे ही अंगोंको कुछ गति करनेकी आज्ञा मिल जाती है। ऐसी दशामें अचानक हम ऐसा कार्य कर बैठते हैं जो अभीष्ट नहीं होता; जैसे किसीके सहसा चिल्ला उठनेपर व्यक्ति चौंक पड़ता है। उस समय वह सूचना मस्तिष्कतक नहीं पहुँचती, हृदय तक पहुँचे और मन उसपर विचारकर उचित कार्य करे, इससे पहले ही आवश्यक समझकर मेरुदण्डके केन्द्र अंगोंको गति करनेकी आज्ञा दे देते हैं।

जितने भी ज्ञान-तन्तुओंके अतिरिक्त केन्द्र हैं, उनमें भ्रूमध्यका केन्द्र अपनी एक विशेषता रखता है। इसका सीधा प्रभाव अन्तर्मनपर पड़ता है। चित्तपर प्रभाव डालनेके लिये इससे अच्छा कोई केन्द्र नहीं है। ध्यानमें दृष्टिका यहाँ संयम करनेसे चंचल मन एकाग्रताकी ओर बढ़ता है और मानसिक-शक्तियोंके प्रयोगमें प्रयोक्ता जिसपर प्रयोग कर रहा हो उसके इसी स्थानपर दृष्टि स्थिर करके आज्ञा देनेसे सफल होता है।

एक बात स्मरण रखना चाहिये कि 'मानस-शास्त्र'में हम मन शब्दसे मन, बुद्धि चित्त और अहंकारात्मक अन्तःकरण समुच्चयमात्रका ग्रहण कर रहे हैं। अतएव केवल संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियोंसे हमारा अभिप्राय नहीं है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मनको ज्ञान, संवेदन और कृतिस्वरूप मानते हैं। वे एक अहंकारको नहीं मानते। जानना (संस्कार), कृति (संकल्प-विकल्प कर्म) और ज्ञान (निर्णय) ये तीन रूप उन्हें अभीष्ट हैं। मनकी समस्त क्रियाओंको वे क्षोभ, ज्ञान और इच्छा इन तीन भागोंमें विभक्त करते हैं। किसी कर्मके लिए इच्छा, कर्मके स्वरूपका या परिणामका ज्ञान और उसके लिये चेष्टा।

जो शक्ति जितनी सूक्ष्म होती है, वह उतनी ही प्रबल भी होती है। मन प्रकृतिके समस्त तत्त्वोंमें सूक्ष्म है, अतः उसकी शक्ति समस्त तत्त्वोंसे प्रबल है। यह समस्त

विश्व मनकी शक्तिका परिणाम है। विराट्का मन इस सृष्टिकी रचना करता है; जो कि व्यष्टिके मनसे अभिन्न है।

वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार यह समस्त दृश्य जगत्, उसके कार्य और आपका स्वतः शरीर, ये कोई वस्तु नहीं। यह सब मनसे निकला है, मनने इसकी कल्पना कर ली है, इसीलिए यह इस प्रकार दृष्टिगोचर हो रहा है। मेस्मराइज्मके द्वारा मनुष्यके मनमें किसपर दूसरी प्रकारकी कल्पना बंठाकर उसे विचित्र अनुपस्थित वस्तुएं दिखायी जा सकती हैं, यह जान लेनेपर आप वेदान्तके इस सिद्धान्तको कुछ समझ सकेंगे।

किसी क्रिया या वस्तुका जो रूप हमें दीखता है और उसका हमपर जो प्रभाव पड़ता है, उस रूप और प्रभाव-को हम पहले वैसा स्वीकार कर लेते हैं। यदि हम अटल भावसे मान सकें कि विष खानेसे मनुष्य अमर हो जाता है तो निश्चय ही ऐसा होगा। आगे हम बतायेंगे कि किस प्रकार भावना उत्पन्न करके व्यक्तियोंपर पदार्थोंका विपरीत प्रभाव डाला जा सकता है। यह आश्चर्यकी कोई बात नहीं, यह एक ध्रुव सत्य है।

सोचिये कि सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंको किसीने मेस्मराइज्म कर दिया है। उसकी इच्छानुसार अनुपस्थित पदार्थ भी लोगोंको वैसे ही दीख रहे हैं और वे लोग उन पदार्थोंका अपनी समझसे उपयोग कर रहे हैं। वस्तुतः यह कल्पना नहीं—मूल सत्य है। उस जगन्नियन्ताकी

माया (मेस्मराइज्म) से समस्त प्राणिवर्ग मोहित हो रहा है।

केवल एक अन्तर है उसने अपनी इस मोहिनी विद्याकी कुंजी जीवोंके पास रख छोड़ी है। उसका संमोहनकारी मन हममेंसे प्रत्येकके मनमें परिव्याप्त है। उस अपने मनका संयम करके हम इस सम्मोहन-जालसे पार हो सकते हैं। वही मन हमारे सम्मोहनका मूल कारण है।

हमारे भीतर समस्त क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्तिका जो केन्द्र है, उसे हम मन कहते हैं। जो कुछ भी होता है उसी मनके द्वारा होता है, किन्तु अज्ञानी जन उसे किसी दूसरी अतिरिक्त शक्तिका कार्य समझ लेते हैं। विश्वमें कुछ भी अप्राप्य नहीं है, क्योंकि सब कुछ हमारे भीतर है। उसका अभिव्यंजक हमारा अपना मन है।

इतना सब होनेपर भी मन कोई स्थिर पदार्थ नहीं। संस्कार संततियोंका वह अटूट प्रवाह है। अवश्य ही उसकी इस अनवरत गतिके पीछे एक निश्चित एकरूप तत्त्व है और उसीके आधारपर मनोवृत्तियोंका प्रवाह एक नियमित परिमाण एवं रूपमें प्रवाहित होता है। जैसे नदीका जल स्थिर नहीं रहता, किन्तु उसके प्रवाहमें भी जलका एक स्थिर आकार है और उसकी गतिके पीछे एक नियत आधार है।

मन कैसे बनता है ?

: २ :

जिस मनकी इतनी अपार शक्ति है और जिसकी शक्तिका उपयोग करना है, उसका निर्माण कैसे होता है, यह जान लेना आवश्यक है। यदि हम जान लें कि मन कैसे बनता है, तो उसके उपकरणोंका संशोधन करके उसे शुद्ध एवं निर्मल बनानेमें सरलता होगी।

दैवात् या भगवदिच्छासे प्रकृतिकी साम्यावस्थामें क्षोभ होनेपर महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हुई। महत्तत्त्वके विकृत होनेपर अहंकार उत्पन्न हुआ। अहंकार विकृत होकर तीन भागोंमें विभक्त हो गया-सात्त्विक, राजस और तामस। अहंकारके उसी सात्त्विक (वैकृत) अंशसे मनकी उत्पत्ति हुई।

मूलमें मन सात्त्विक-पवित्र है। यदि वह मूलमें पवित्र न होता तो फिर उसके पवित्र होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती। कारण यह है कि वस्तुके मूलरूपको बदला नहीं जा सकता, पर उसमें आये विकारोंको दूर किया जा सकता है। जैसे जलका मूल रूप मधुर है, पर अन्य वस्तुओंके संयोगसे वह तिक्त, कटु,

कषाय प्रभृति हो जाता है, ऐसे ही मनका मूल रूप सात्त्विक होनेपर भी वह संस्कारोंके संयोगसे राजस और तामस हो गया है। इन बाहरसे मिले विकारोंको दूर करके मनको उसके मूल रूपमें लाना है।

मनका वास्तविक रूप संस्कार-शून्य केवल सात्त्विक अहम् है। संगसे उसमें संस्कार आते हैं। मनुष्य जैसा संग करेगा, ठीक उसी प्रकारके संस्कार उसके मनमें आयेंगे। चोरका संग करनेसे चोरीके संस्कार और भक्तका संग करनेसे भक्तिके संस्कार। सत्संगका इसीलिये इतना अधिक महत्त्व है। इसमें भी बचपनमें जो संस्कार हृदयपर पड़ता है वह अत्यन्त दृढ़तासे जम जाता है। बाल्यकालमें जो संस्कार हम ग्रहण कर लेते हैं, उनका त्यागना असम्भव नहीं तो कठिनतम अवश्य हो जाता है।

जीवके प्राक्तन कर्मोंके संस्कार तो होते ही हैं, माता-पिताके संस्कार उसे उनके रजवीर्यके साथ मिलते हैं। आज रक्त-शुद्धिका जर्मनीका आन्दोलन इसी आधारपर चल रहा है। माता-पिताके जैसे विचार कमसे-कम गर्भाधानके समयके विचार शिशुमें आते ही हैं। गर्भमें आनेके पश्चात् माताके कार्य एवं विचारोंका संस्कार उस गर्भस्थ बच्चेपर पड़ना आरम्भ होता है। उस समयके संस्कार ही जीवनका निर्माण करते हैं।

उत्पन्न होनेके पश्चात् बच्चेपर अपने सम्पर्कमें आनेवाली प्रत्येक वस्तु, क्रिया और व्यक्तिका संस्कार पड़ता है और इन्हीं संस्कारोंके आदान-प्रदानमें हम अपना

जीवन समाप्त करते हैं। देखने, बोलने, छूने, खाने आदिके अतिरिक्त केवल पास रहनेसे भी संस्कारोंका आदान-प्रदान होता है। आपके बिना जाने एक उत्तम महात्मा आपके पास आ जायें तो उसे बिना देखे और उससे बिना बोले भी आपका मन प्रसन्न हो उठेगा। ऐसे ही किसी पापीके आनेसे मन विक्षुब्ध होगा और उसमें विकार आने लगेंगे।

प्रत्येक वस्तु और व्यक्तिमें से उसके परमाणु बाहर बड़ी द्रुत गतिसे निकल रहे हैं और बाहरके परमाणु उसमें प्रविष्ट हो रहे हैं। प्रत्येक वस्तु अपनेसे बाहर एक विद्युत् सदा छोड़ती है और बाहरसे विद्युत् ग्रहण करती है। डाक्टरोंने जाँच करके बतलाया है कि साढ़े तीन वर्षमें पूरा मनुष्य-शरीर बदल जाता है। इन बाहर जानेवाले परमाणुओं तथा विद्युत्-धारामें उस वस्तु या प्राणीके विचार-संस्कार विद्यमान होते हैं। जब हम किसी वस्तु या व्यक्तिके समीप पहुंचते हैं; तो अज्ञातरूपसे उसके संस्कार इन परमाणुओं और विद्युत्के द्वारा हममें प्रविष्ट होते हैं तथा हमारे उसमें। इसीलिये शास्त्रीय क्रियामें विशेष-विशेष व्यक्ति और वस्तुओंका उपयोग या निषेध बताया गया है।

मनका मूलाधार उस भोजनके सूक्ष्मांशसे बनता है जिसे कि हम भोजन करते हैं। शरीरकी प्रत्येक वस्तु सर्वदा क्षीण होती है और उसका अधिकांश भाग हमारे भोजन, पान एवं श्वास-प्रश्वाससे पूर्ण होता है। ५।

रस, रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदके शुद्ध भागसे वीर्य और शेषसे अस्थि बनती है। इसी वीर्यके सूक्ष्मांशसे मन और बुद्धिका निर्माण होता है। मनुष्य जैसे अन्नका भोजन करेगा, उसका मन भी वैसा बनेगा। सात्त्विक आहार साधकके लिये इसीलिए अनिवार्य है। स्मरण रहे कि सड़ने, गन्दे होने, बासी होने, जूठे होने या अधिक भोजन कर लेनेपर सात्त्विक आहार भी राजस और तामस हो जाता है।

मन भावनामय है, अतः अन्नके साथ जिस भावनाका सम्पर्क होगा, उस भावनाका मनपर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। भोज्यपदार्थ देनेवाला, देखनेवाला, छूनेवाला तथा और भी जिससे उसका कोई सम्बन्ध है, अपने भावोंको उसमें प्रविष्ट करता है और वह भाव भोजन करनेवालेके मनमें पहुँचते हैं। जैसे यदि भोज्य पदार्थ चोरीसे अथवा हिंसासे उपार्जित हैं तो सात्त्विक होनेपर भी उसमें चोरी और हिंसाके संस्कार मनको मिलेंगे। यदि किसीने पुत्रोत्पत्तिकी कामनासे अन्नदान किया है तो भोजन करनेवालेमें कामविकार आयेगा। यदि अन्नपर दृष्टि डालनेवाला उसपर लुब्ध होता है तो मनमें मोह और लोभ उत्पन्न होंगे। छूनेसे तो परमाणु सीधे भोजनमें आते ही हैं।

साधकके लिये आहार शुद्धि एक आवश्यक अंग है। सबसे शुद्ध आहार अपने श्रमसे पवित्रतापूर्वक उपार्जित किया होता है। ईमानदारीसे उपार्जन सम्भव न हो तो

किसी शुद्धाचरणवालेका दिया पदार्थ लेना चाहिये। आज जो लोगोंके विचार इतने कलुषित हो रहे हैं, उसका एक कारण भोजनके सम्बन्धकी उच्छृंखलता भी है।

इन बातोंके अतिरिक्त देश, काल और समष्टिका प्रभाव भी हमारे मनपर पड़ता है। जो स्थान अपवित्र है, वहाँ अपवित्रताके संस्कार होंगे। जिस घरमें दो व्यक्ति तुरन्त झगड़ा कर चुके हों, उसमें प्रवेश करनेवालेका मन अशान्त हो उठेगा, चाहे वहाँ उस समय कोई भी न हो। जहाँकी भूमिमें कोई प्रबल अपवित्र संस्कार होता है, वहाँ बिना कारण मनमें विकार आने लगते हैं। यदि देशमें युद्ध हो रहा हो तो एकान्त कमरेमें भी हम शान्त नहीं रह सकते। विक्षुब्ध वायुमण्डल हमारे मनको अवश्य प्रभावित करेगा।

प्रकृतिमें समष्टि रूपसे कभी रजोगुण, कभी तमोगुण और कभी सतोगुणका प्राबल्य रहता है। जब समष्टिमें जिस गुणका उद्भव होता है, व्यष्टि मनपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। नक्षत्रादि ग्रह भी अपने-अपने प्रभाव अपने समयपर डालते हैं और हमारा मन उनसे प्रभावित होता है। शास्त्रोंमें इस आधारपर शुभ एवं अशुभ कालोंका विवेचन किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारोंको आकाशमें छोड़ रहा है। आकाशमें अनन्त विचार भरे पड़े हैं जो निरन्तर अज्ञात रूपसे हममें प्रविष्ट होकर हमारे मनको प्रभावित

कर रहे हैं। जहाँ अधिक लोग एक विचारके हों, वहाँ उनसे अलग रहनेपर भी उनके विचारका प्रभाव दूसरे व्यक्तिपर पड़ता है। हम विश्वमें व्याप्त विचारोंसे अछूते नहीं रह सकते।

इन बातोंसे सिद्ध हुआ कि हमारा मन केवल हमारे पूर्वकृत संस्कारोंका परिणाम नहीं है। पूर्वकृत कर्म, वंश-गत संस्कार, माता-पिताके विचार, माताकी मनोदशा, अपने संगमें आनेवाले व्यक्ति, पदार्थ एवं क्रियाओंके संस्कार, देश, काल, तथा समष्टिके संस्कारोंको लेकर हमारे मनका वर्तमान रूप बना है।

मनके विभाग

: ३ :

प्रायः मनके दो भाग किये जाते हैं—बाह्य मन और अन्तर् मन। सरलताके लिये इन्हें बुद्धि और मन कहना ठीक होगा। अधिक स्पष्ट व्याख्याके लिये हम मनके चार विभाग करेंगे। बाह्यमन, संचालकमन, निर्णायकमन और अन्तर्मन। हम जब प्रायः किसी वस्तु या लक्ष्यका चिन्तन करने बैठते हैं तो प्रायः वस्तुके सामने रहनेपर भी मन अपनी अलग उधेड़-बुनमें पड़ा रहता है। मनके इस भागको बाह्य मन कहते हैं।

मन तो कहीं चला गया है, पर शेष अंग ठीक काम कर रहे हैं। मार्ग चलते समय कुछ सोच भी रहे हैं और पैर चलते भी जाते हैं। सोते समय मच्छर आदिके काटनेपर हाथ अनजानमें ही चलता है। रक्तकी गति प्रभृति और श्वास आपके अनजानमें ही चलती रहती है। इस भागको संचालकमन कहते हैं।

मनुष्यका निर्णय उसके सामाजिक संस्कार और अध्ययन प्रभृतिपर होता है। हमारे मनमें जितने संकल्प-विकल्प उठते हैं और जितनी भावनाओंको हम ग्रहण करते हैं,

उनमेंसे अधिकांश कार्य रूपमें परिणित नहीं होतीं। उनमेंसे हित-अहित प्रभृति अनेक विचारोंको देखते हुये कुछ ही कार्यमें आती हैं। इन भावनाओंमें से किसे दबा दिया जाय और किसे अभिव्यक्त किया जाय, यह कार्य मनके जिस अंशसे होता है उसे निर्णायिक मन कहते हैं। इसीका दूसरा नाम बुद्धि है, जो भावनाएँ दबा दी जाती हैं वे नष्ट तो होती नहीं, संस्कार रूपसे वे भीतर पड़ी रहती हैं। इसी संस्कारात्मक भागको अन्तर्मन या चित्त कहते हैं।

चित्त या अन्तर्मनके भी भाग होते हैं। एक जन्मान्तरके संस्कारोंका भाग और एक इस जन्मके संस्कारोंका भाग। प्रायः देखा जाता है कि किसी विशेष रोगमें अथवा मेस्मरिक निद्रामें मूर्छित व्यक्ति ऐसी बातें करने लगता है जो इस जन्ममें उसके ज्ञातव्यने बाहर की हैं। कईबार ऐसा हुआ है कि सिरमें चोट लगनेपर व्यक्ति ऐसी भाषाएं बोलने लगे हैं जो वे जानते नहीं थे। यह बातें उनके प्राक्तन संस्कारोंकी हैं। चोट लगनेपर बाह्यमनके विक्षिप्त हो जानेसे वह अन्तर्मनके मार्गमें बाधा नहीं दे पाता, अतः वह संस्कार ऊपर अभिव्यक्त हो जाते हैं। योगी योग साधनके द्वारा बाह्यमनको शान्त करके चित्तके उन संस्कारोंका अध्ययन करते हैं और इसके द्वारा पिछले जन्मोंकी बातें जान लेते हैं।

हम जिन संस्कार या भावनाओंको सामाजिक संकोच या अहितकी दृष्टिसे दबा देते हैं, वे नष्ट नहीं होतीं।

वे मनके और गहरे प्रान्तमें पहुंच जाती हैं। उनका प्रभाव क्या होता है, यह एक पृथक् अध्यायमें बताया जायेगा। बेहोश होनेपर, पागल होनेपर, किसी रोगकी मूर्छामें तथा ऐसी और किसी स्वप्न या नशेकी हालतमें मनुष्य प्रायः इन्हीं दबाये हुये संस्कारोंको कहता है। उस समय बुद्धि जो कि इनके प्रकट होनेमें रुकावट डालती है, विक्षिप्त रहती है, अतः ये अवसर पाकर प्रकट जाते हैं।

अशृंखलित भावसे प्राक्तन एवं वर्तमान जन्मके ये समस्त संस्कार भरे पड़े हैं। इनको शृंखलित करनेसे संसारमें मनुष्य एक आश्चर्यजनक शक्तिशाली हो जाता है। देव, मन्त्र एवं यौगिक शक्तियोंके नामपर जो कुछ भी किया जाता है, वह सब इसी मानसिक शक्तिका काम है, क्योंकि यह विश्व ही मनका कार्य है। मनसे बाहर कोई शक्ति ही नहीं।

हम आगे मानसिक-शक्तियों तथा उनके आश्चर्य-जनक कार्योंका विस्तृत विवरण देंगे। इससे पहले हम यह बता देना चाहते हैं कि यह जादू या कोई धोखेबाजी नहीं। यह एक विज्ञान है, ठीक वैसा ही विज्ञान, जैसे अन्य दूसरे विज्ञान हैं। परीक्षण-प्रयोग इसमें भी हो सकता है और इसमें भी कार्य कारण सम्बन्ध है।

संसारमें दो तत्त्व हैं, ज्ञान और क्रिया। समस्त विश्वको इन्हीं दो तत्त्वोंमें विभक्त किया जा सकता है। मनका संस्कारात्मक भाग ज्ञानका केन्द्र है। समस्त ज्ञान जो कि व्यक्ति पाता है, इसी भागसे आता है। बाह्य

अध्ययन आदि केवल उस ज्ञानको अन्तर्मनसे बाह्यमनमें ला देते हैं। प्रायः एक ही विषयके अध्ययन करनेवाले दो व्यक्तियोंमें एक अत्यन्त पटु निकलता है और एक बहुत कम जान पाता है। लोकमें इस शक्तिको प्रतिभा कहते हैं, जो जन्मसे प्राप्त होती है। यह प्रतिभा प्राक्तन संस्कारोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिस व्यक्तिमें जिस प्रकारके प्राक्तन संस्कार अत्यन्त स्पष्ट हैं, वह उस विषयको शीघ्र ग्रहण कर लेता है। जिस व्यक्तिमें उस प्रकारके संस्कार स्पष्ट नहीं, वह बहुत कम संस्कार अंकित करता है।

हम जितना जानते हैं, उतने ही संस्कार चित्तमें हैं ऐसी बात नहीं। चित्तमें पता नहीं कितने प्रकारके असंख्यों संस्कार भरे पड़े हैं, जिनका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। मानसिक साधनोंमें जब कोई संस्कार प्रकट होता है तो साधारण लोग उसे अपनेसे भिन्न किसी अतिरिक्त शक्तिका कार्य समझ लेते हैं। एक बात बिल्कुल निश्चित है कि कोई भी साधन, क्रिया उस प्रकारके कार्यको नहीं व्यक्त कर सकती, जिसके संस्कार हमारे मनमें न हों। प्रायः मनके प्राक्तन संस्कार भी वही अभिव्यक्त होते हैं, जिनकी अभिव्यक्तिके विषयमें पहले बाह्य मनने एक रूपरेखा निश्चित कर ली हो। बाह्यमनमें जिसके विषयमें कोई धारणा नहीं, वह प्राक्तन संस्कार मनकी बहुत गम्भीर अन्तर्मुखवृत्ति होनेपर प्रकट होता है। प्रायः इसी जन्मके वे संस्कार जो विस्मृतिके गर्भमें

जा चुके हैं, बाह्यमनके सम्मोहित होनेपर ऊपर आते हैं।

जब भी हम कोई इच्छा, विचार या कल्पना करते हैं तो संचालक मन उसे ग्रहण कर लेता है और तत्काल उसका प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है। उस विचारकी दृढ़ता और उसकी अनुवृत्तिके अनुसार प्रभाव कम या अधिक हुआ करता है। आकृति-विज्ञान-प्रकरणमें और मानसिक-चिकित्सा-प्रकरणमें हम इस संचालक मनका विवेचन विस्तार पूर्वक करेंगे।

वाह्यमन और बुद्धि (निर्णायकमन) ये दोनों अनुज्ञाकारी होते हैं। इनपर संस्कार पड़ते-पड़ते जैसा इनका स्वभाव बन जाता है, ये उधर ही अधिक प्रवृत्त होते हैं। इनपर किया हुआ कोई भी प्रयोग सफल होनेमें श्रम और कालकी अपेक्षा करता है। अन्तर्मन और संचालकमन ये दोनों आज्ञाकारी हैं। इनको जो भी आज्ञा दी जाती है, यदि वह आज्ञा सर्वथा ही इनके विपरीत नहीं; तो ये उसे ग्रहण कर लेते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं।

बाह्यमन और निर्णायक मन अपने स्वभावके संस्कार अन्तर्मनमें ही रखते हैं। यदि बाह्य मनको सुप्त करके कोई आज्ञा अन्तर्मनको दी जावे तो जागृत होनेपर बाह्यमनको उस आज्ञाके ही संस्कार मिलेंगे, तब वह उसीके अनुसार कार्य करेगा। आगे आनेवाली मानसिक साधनाओंमें यही विज्ञान काम करता है।

बाह्यमन (मन) की प्रतीति तो स्पष्ट है, क्योंकि वह स्वप्नमें नहीं रहता, स्वप्नमें अन्तर्मन (चित्त) की प्रतीति हो जाती है और ऐसे रोगोंमें जब कि रोगी निद्राकी दशामें ही चलता है—पत्र या पुस्तकें लिखता है निर्णायक मन (बुद्धि) की सत्ता बाह्य एवं अन्तर्मनसे पृथक् सिद्ध हो जाती है; किन्तु संचालक मन (अहंकार) की सत्ता केवल समाधिमें ही प्रतीति हो सकती है, जब कि जीवित व्यक्तिकी हृदयगति और नाड़ियोंमें रक्तकी गति भी उस दशामें रह नहीं जाती। समाधिका अर्थ है सम्यक् मनोनिरोध, और जब मनोनिरोधकी पूर्णतासे श्वास तथा रक्त एवं हृदयकी गति बन्द हो जाती है, तो यह स्पष्ट सिद्ध है कि निद्रामें जब ये चलते रहते हैं, अवश्य मनका कोई भाग जागृत रहता है। शास्त्रमें यही अहंकार कहा जाता है और यह सुषुप्तिमें भी जागृत रहता है। यही श्वासादिका संचालक है। समाधिमें इसी अहंकारके निरोधसे हृदय तककी गति बन्द हो जाती है। यौरोपीय मनोवैज्ञानिकोंके लिए समाधिकी अवस्था ही कल्पनातीत है, इसीसे वे मनके इस सूक्ष्मतम संचालक भाग 'अहं' को उपलब्ध नहीं कर पाते।

मनकी शक्ति

: ४ :

'यदि तुम दृढ़ विश्वासके साथ आल्पस पर्वतको आज्ञा दो कि 'तू जा और रोमसागरमें डूब जा !' तो अवश्य तुम्हारी आज्ञाका पालन होगा ।'

—जेम्स एलन

मनमें कितनी अपार शक्ति है, इसका अनुमान हम उपरोक्त पाश्चात्य देशीय महापुरुषके वाक्यसे लगा सकते हैं। विश्व एक शक्तिका विलास है और उस शक्तिका केन्द्र है हमारा मन। हम अपनी इस महान शक्तिसे विमुख हो गये हैं, चिरकालसे इसका उपयोग न करनेके कारण यह शक्ति सुप्त हो गयी है, बस हमारे समस्त संकटोंका यही कारण है।

योग-साधनसे शक्ति प्राप्त होती है, इसमें किसीको भी सम्भवतः कोई आपत्ति न होगी। अणिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, आकाश-गमन प्रभृति सिद्धियोंका योग-ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णन है। इनके अतिरिक्त और भी सैकड़ों सिद्धियाँ हैं। आप सोचिये कि ये शक्तियाँ आती कहाँसे हैं? जो नहीं है उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, यह गीताका सिद्धान्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये शक्तियाँ हममें पहलेसे थीं। वे

सुप्त अवस्थामें थीं, यह दूसरी बात है। साधनने उन्हें जन्म नहीं दिया, केवल उन्हें जागृत कर दिया।

साधन भी क्या होता है? सभी साधनोंका उद्देश्य होता है एक विशेष भावनाको लेकर मनको स्थिर कर देना। जिस भावनाको लेकर मन स्थिर होता है, वही शक्ति उसमें जागृत हो जाती है। साधन प्रधान नहीं, साधनके अतिरिक्त भी ऐसा हो सकता है। प्रधान है मनकी एकाग्रता।

शास्त्रोंमें जहाँ भी सिद्धियोंका वर्णन आया है, वहाँ केवल भावनाको लेकर उसपर एकाग्र होनेको ही प्रधानता दी गयी है। जैसे आकाश तन्मात्रापर एकाग्र होनेसे आकाश-गमन-सिद्धि प्राप्त होती है। उदाहरणको स्पष्ट करनेके लिये प्राणायामको ले लीजिये। प्राणायामके द्वारा प्रायः सभी रोग अच्छे हो सकते हैं और उससे बहुत-सी सिद्धियाँ भी होती हैं, किन्तु प्राणायाम बिना मनःसंयमके होता ही नहीं। मान लीजिये कि एक प्राणायाममें भ्रूमध्य में प्राणसंयम बताया गया है, अब आप भ्रूमध्यमें प्राण-संयम कैसे करेंगे? यही तो कि मनके द्वारा वहाँ प्राणके स्थिर होनेकी कल्पना करेंगे? यही कल्पना स्थिर होनेपर सत्य हो जाती है, सचमुच प्राण वहाँ पहुँचकर स्थिर हो जाता है।

मनको छोडकर आप प्राणायाम करने बैठिये। अच्छेसे अच्छे अभ्यासीके लिये दो मिनट श्वास रोकना कठिन हो जायगा। अब प्राणको तो छोड़ दीजिये और मनको

एकाग्र कीजिये। जितनी देर तक मन चंचल न होगा, स्वतः प्राण रुका रहेगा। बिना चेष्टाके पर्याप्त समय तक कुम्भक हो जायगा। मनः संयमके द्वारा प्राणायाम करनेके इच्छुक आरम्भिक साधकोंके लिये यह अत्यन्त सरल है कि वे श्वासकी गतिका मनके द्वारा निरीक्षण करें। श्वासको न तो रोकनेकी चेष्टा करें और न चलानेकी। पर मनको वहाँसे भागने न दें। वे देखेंगे कि निरीक्षण आरम्भ करते ही प्राण रुक जायगा और जबतक मन चंचल न हो, कुम्भक टूटेगा नहीं। इस प्रकारके प्राणायाम-में कोई कष्ट भी नहीं होगा।

जब मनमें काम या क्रोधकी वासनाओंकी प्रबलता हो जाती है तो उस समय मनको स्थिर करना बड़ी टेढ़ी खीर हो जाता है। यदि मनको रोकनेकी इच्छा उस समय जागृत है तो अवश्य मन उन वासनाओंपर विजय पायेगा। ऐसे समयमें आवश्यक यह होता है कि कोई प्रतिगामी भावना उठाकर मनको उधर मोड़ा जाय। किन्तु ऐसे समयपर प्रतिगामी भावना उठाना भी सरल नहीं होता ऐसे समयके लिये अपना एक अनुभूत साधन है, जब भी काम या क्रोधकी भावना आपमें प्रबल हो उठे संख्याके साथ 'राम' नामका जप कीजिये। जैसे--राम एक, राम दो, राम तीन···इस प्रकार आप देखेंगे कि चालीस-पचास संख्यातक पहुंचते-पहुंचते वह वासना नष्ट हो गयी है।

किसी भी वस्तु या भावनाका हमपर जो प्रभाव पड़ता है, वह हमारे मनने मान लिया है कि उसका

हमपर ऐसा प्रभाव पड़ेगा। हिप्नाटिज्म केवल मनमें इस प्रकारकी धारणा बैठाता है। साधारणतया सभी जानते हैं कि यदि रोगीको दवा या वैद्यपर विश्वास न हो तो वह दवा लाभ नहीं करती। विश्वास होनेपर घास-फूस भी लाभ करता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि लाभ अपने भीतरकी धारणामें है। बाह्य वस्तु तो केवल उपकरणका काम करती है।

एक डरपोक आदमीको अंधेरी रात्रिमें कहीं कोई लकड़ी पैरमें लगी और खरोंच आगया। उसने सोचा 'सांपने काट खाया।' वह बड़े जोरसे चिल्लाकर भगा और गिरकर मूर्छित हो गया। उसके मनमें यह विश्वास हो गया कि सांपने काटा है। रक्तकी गति वैसे ही बदल गयी, फल यह हुआ कि शरीर नीला पड़ गया और वह विषके लक्षणोंसे अभिभूत होकर मर गया।

दूसरे किसी आदमीको काले सांपने काट खाया। उसने सोचा 'मेढक होगा' संयोगसे पासमें एक मेंढक उछल पड़ा। विश्वास दृढ़ हो गया। मनमें विषके विरुद्ध धारणा की। शरीरमें थोड़ी गर्मी आयी, पर वह सोचता था 'आजकी थकावटका प्रभाव है'। फल यह हुआ कि विष पच गया और उसे पता भी न चला। मनकी भावनाका यह सुन्दर प्रमाण है। यह तो सभी जानते हैं कि अंधेरेमें भूतप्रेतकी भावना करके डरपोक व्यक्ति डर जाता है और बीमार होकर कभी-कभी मृत्युके पास पहुंच जाता है।

बात यह है कि जब बाहरकी सभी वस्तुएँ हमारे मनसे ही आयी हैं, हमारा संस्कार ही इस विश्वका निर्माता है, तो बाह्य पदार्थोंकी शक्ति भी हमारे भीतरसे ही आती है। दृढ़ एवं अटल संस्कार होनेके कारण हम अब उन वस्तुओंका वह प्रभाव मानने लगे हैं और उनका उपयोग करनेपर भी प्रभाव न पड़ेगा यह असम्भव लगता है। आज हम सोचते हैं कि प्रह्लादको कैसे अग्नि शीतल हो गयी, वह समुद्रमें क्यों नहीं डूबे, उन्हें हथियारोंसे चोट क्यों नहीं लगी, पहाड़से गिरानेपर भी हड्डी पसली क्यों नहीं टूटी, मीरा विषको कैसे पचा गयी ? पर हम यह भूल जाते हैं कि उनका कितना अटल विश्वास इन प्रतिकूलताओंपर विजय पानेके लिये था।

विश्वमें यदि कोई भगवत्-शक्ति है तो वह है हमारी मनःशक्ति। प्रत्येक हृदयमें वह शक्ति-सिन्धु विराजमान हैं, उनका अभाव किसी भी स्थानपर नहीं। किन्तु उनकी उस अपार शक्तिका अबतक व्यक्तिमें होनेके लिये उसमें दृढ़ मनोबल एवं अटूट विश्वासका होना अनिवार्य है। आप उसे आत्मविश्वास कहिये या भगवद्विश्वास पर, हमारा उद्देश्य तो यह है आपमें उद्देश्य प्राप्तिमें तनिक भी सन्देह नहीं होना चाहिये। विघ्न-वाधाओंपर विजय पानेका दृढ़ विश्वास होना चाहिये। विश्वास एवं दृढ़ मनकी शक्ति ही विश्वकी शक्ति है। जिसके पास अटूट मनोबल है, उसके कोषमें असंभव जैसा कोई शब्द नहीं।

मनःशक्ति समान क्यों नहीं ?

: ५ :

मन सभीके पास होता है और सभी मनोंमें परमात्मा-का प्रकाश प्रस्फुटित होता है, फिर भी एक व्यक्तिकी मनःशक्ति अधिक है और एककी कम। प्रश्न होता है कि यह विषमता क्यों ?

एक व्यक्ति एक साधन करने बैठता है तो बहुत शीघ्र सफल हो जाता है और दूसरा व्यक्ति लाख सिर पटकने-पर भी सफल नहीं होता। इसका मुख्य कारण है मनकी निर्मलता। जिस व्यक्तिका मन जितना निर्मल होगा, उसका मन उतना ही अपने लक्ष्यमें एकाग्र होगा। साधन-सफलता एकाग्रतापर निर्भर करती है।

जो व्यक्ति दृढ़ निश्चयी है, जिसके हृदयपर बचपनसे निर्भीकता और आत्मविश्वासके संस्कार पड़े हैं, साथ ही जो कोई ऐसा काम नहीं करता है; जिससे मनोबलका नाश हो, वह जिस किसी मानसिक साधनामें शीघ्र सफल हो जायेगा। बचननके तथा प्राक्तन संस्कारोंके अतिरिक्त आहार-विहार एवं संगका भी मनपर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। भोजन एवं संगका मनपर कैसे प्रभाव पड़ता है, यह अगले अध्यायोंमें बताया जायगा। अतः जिसे भी मानसिक साधना करनी हो वह पहले मनोबल प्राप्त

करे। दृढ़ एवं प्रबल निश्चयसे साधन करनेपर सभी पुराने संस्कारोंपर विजय पाना सम्भव है।

जो लोग शंकालु हैं, जिन्हें बात-बातमें सन्देह हो जाया करता है, जो अपनेपर विश्वास नहीं करते और सदा दूसरोंसे आशा करते हैं, जिनके आचरण शुद्ध नहीं, वे कुछ समयके लिये सयत होकर साधन करें भी तो उसमें सफलता नहीं होती। यदि सफलता होती भी है तो बहुत देरमें।

जिसमें विश्वासकी मात्रा जितनी अधिक होगी और जो त्यागके लिये जितना अधिक उद्यत होगा, वह उतनी ही मानसशक्तिका सम्पादन कर सकेगा। उदाहरणके लिये एक दृष्टान्तसे समझिये—

एक राजपूत नरेश आखेटके लिये वनमें जा रहा था। उसने मार्गमें देखा कि एक ब्राह्मण बिल्वके पेड़के नीचे अग्निमें बिल्व-फलोंकी आहुति दे रहा है। वह उसे देखकर जंगलमें चला गया। जब शामको लौटा तो उसे वह ब्राह्मण वैसे ही हवन करते मिला। नृपति ब्राह्मणके पास गया और पूछने लगा—'आप यह क्या कर रहे हैं?' ब्राह्मणने उत्तर दिया—'राजन! मैं एक दीन-विप्र हूं। धनाभावके कष्टोंसे ऊबकर यहाँ अग्नि-देवताकी आराधनामें लगा हूं। जब मेरी आहुतियोंसे अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे तो कुण्डमेंसे स्वर्णके बिल्व फल निकलेंगे। मुझ अभागेको कई दिन आहुतियाँ देते बीत गये, पर अभी तक देवता प्रसन्न नहीं हुए।'

राजाने कहा—'अच्छा, एक बेल मुझे दो। मैं आहुति देकर देखूं कि देवता मुझसे प्रसन्न होते हैं या नहीं।'

ब्राह्मण बोला—'नृपति ! मैं स्नान, संध्या, आसनादि करके, पवित्रतासे सविधि मन्त्र-पूर्वक आहुति दे रहा हूं। इतनेपर भी देवता प्रसन्न नहीं हुए। आप अभी वनसे आये हैं, आपके शरीरमें पशुओंका रक्त लगा हुआ है, आप पवित्र नहीं और मन्त्र भी नहीं जानते। फिर आप एक ही आहुतिमें देवताको प्रसन्न करनेकी कैसे आशा करते हैं ?'

राजाने कहा—'मुझे बेल दो और परीक्षा करने दो।' ब्राह्मणको उनकी बात माननी पड़ी। राजाने बेल हाथमें लेकर मन ही मन संकल्प किया—'यदि देवता प्रसन्न न हुए तो दूसरी आहुति मेरे सिरकी होगी।' आहुति पड़ते ही कुण्डमेंसे साक्षात् अग्निदेव प्रकट हुए और बहुतसे स्वर्ण-बिल्व भी निकले।

दृष्टान्तका तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रबल निश्चय मानस-शक्तिको आविर्भूत कर देता है और शंका तथा संकोचकी भावना उसमें बाधा देती है।

पाश्चात्य देशोंमें परलोकगत आत्माओंके बुलानेके लिये, जिनके बुलानेकी पद्धति हम आगे लिखेंगे, माध्यम होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति माध्यम नहीं हो सकता और माध्यमोंमें भी समान शक्ति नहीं होती। कोई चित्र हो सकता है, कोई साक्षात् दर्शन करा सकता है और किसी को मेजके खटकोंपर ही सन्तोष करना पड़ता है।

माध्यमोंके विषयमें कहा जाता है कि यह शक्ति जन्मसे ही होती है। जैसे प्रतिभा जन्मसे होती है। जैसे ठोंक-पीटकर कोई कवि नहीं बनाया जा सकता, वैसे ही माध्यम भी नहीं बनाया जा सकता।

प्रतिभा और मनोनिग्रहकी शक्ति दोनों जन्मसे आती है। माध्यममें मन:संयमकी शक्ति होती है। यह मानना कि उसमें कोई अलौकिक शक्ति है, एक भ्रान्त धारणा है। जिस माध्यममें जितनी अधिक मनःसंयमकी शक्ति होगी वह उतना ही अधिक अपने कार्यमें सफल होगा। एक ही माध्यममें जब मन चंचल और स्थिर हो तो सफलता और असफलताका तारतम्य हो जाता है।

यद्यपि यह बात सच है कि प्रतिभा और मनोबल अधिकांशतः प्राक्तन संस्कारोंसे प्राप्त होते हैं, पर ऐसा कोई कारण नहीं कि साधनके द्वारा उन्हें पाया न जा सके। निश्चयपूर्वक साधन व्यक्तिको कवि और माध्यम दोनों बना सकता है। हम इन साधनोंका वर्णन एक स्वतन्त्र अध्यायमें विस्तारपूर्वक करेंगे।

जड़में शक्ति नहीं होती, पर जड़ चेतनसे शक्तिग्रहण करके शक्तिवान हो सकता है। जैसे दर्पणमें प्रकाशक शक्ति नहीं, पर दर्पण सूर्यके प्रतिबिम्बको ग्रहण करके दूर प्रकाश फेंक सकता है। समस्त प्रकृति और प्राकृत वस्तुएँ जड़ हैं। उनमें शक्ति नहीं। वे चेतन परमात्मासे शक्ति लेकर चेष्टित होती हैं।

ग्रहण करनेवाला पदार्थ जितना सूक्ष्म और निर्मल

होगा, वह उतनी ही अधिक शक्तिका ग्रहण कर सकेगा। जैसे सूर्यका प्रकाश समान रूपसे पड़नेपर भी दर्पण उसे ग्रहण कर लेता है और पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि नहीं। इस प्रकार परमात्माके सर्व व्यापक होते हुए भी प्रकृतिका सूक्ष्म एवं स्वच्छ अंश मन ही उनकी शक्तिको ग्रहण कर पाता है। स्थूल पंचभूतादि उसे ग्रहण नहीं कर सकते। यदि ग्रहण करते भी हैं तो नाममात्रको।

दर्पण भी वह प्रकाशको अच्छी प्रकार ग्रहण करेगा जो निर्मल होगा। जिस दर्पणपर जितना अधिक मल जमा होगा, वह उतना ही कम प्रकाश ग्रहण करेगा। अतः मन जितना निर्मल होगा, उतनी ही उसमें परमात्माकी शक्ति प्रकट होगी। जिसके मनपर विषय-वासनाओंका जितना अधिक मैल, विकार है, उसके मनमें उतनी ही अल्प शक्तिका आविर्भाव होता है, व्यक्तियोंकी मनः-शक्तिके तारतम्यका कारण उनके मनकी निर्मलताका तारतम्य है।

यदि हमें पूर्ण शक्ति प्राप्त करना है, यदि हमें सम्पूर्ण मनोबलकी आवश्यकता है, तो मनको विषयोंसे हटाना होगा। संयमी, पवित्र और सदाचारी जीवन बिताते हुये सात्त्विक साधनोंके द्वारा मनके पुराने मलको स्वच्छ करना होगा।

व्यष्टि-मन और समष्टि-मन

: ६ :

चेतनता व्यापक है, यह कहनेकी अपेक्षा यह अधिक सत्य है कि सब चेतन ही है। जड़की प्रतीति उसी चेतनमें हो रही है। जैसे फेन जल होनेपर भी जलसे भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही जड़ चेतन होनेपर भी चेतनसे भिन्न प्रतीत होता है।

चेतनमें जड़की प्रतीति होनेपर उसके भिन्न-भिन्न केन्द्र बनते हैं और फिर उनका संघीभाव होता है। ये केन्द्र अपनेमें चेतनाको अभिव्यक्त करते हैं। हम जितने स्थूल पदार्थ देखते हैं वे ऐसे छोटे-छोटे केन्द्रोंके संघीभाव हैं। जैसे हमारे शरीरका गठन असंख्यों नन्हें-नन्हें कीटाणुओंके संगठनसे हुआ है। ये कीटाणु चेतन होते हैं और इनका गठन भी इनसे छोटे चेतन कीटाणुओंके समूहसे होता है। इस प्रकार यदि हम बराबर विभाजन करते जायें तो देखेंगे कि यह पृथक्ता और जड़ता केवल भ्रममात्र है। मूलमें तो केवल एक और अखण्ड चेतन-शक्ति है।

जब चेतनको अभिव्यक्त करनेवाले छोटे-छोटे जड़-

कण (जीव) अपना संघ बनाते हैं तो उतना वह संघ भी चेतनता ग्रहण कर लेता है और वही चेतनता संघगत समस्त छोटे कणोंका संचालन करती है। जैसे हमारा शरीर बना तो है बहुतसे कीड़ोंके संघसे, पर उस संघमें स्वतः प्राण (चेतना) अभिव्यक्त हो गयी, जिसे हम जीव कहते हैं। इसी जीवकी मानस-शक्तिके द्वारा शरीरके सारे कीटाणुओंका संचालन होता है।

संघ बनानेवाला जीव संघकी चेतनाके पराधीन होता है शरीरका कीटाणु हमारी मानस-शक्तिके पराधीन है। शारीरिक नियमोंके वशमें रहते हुए वह अपनी कार्य-सीमामें तो चेष्टा कर सकता है, किन्तु उससे बाहर कुछ नहीं कर सकता। उसके मामूली नियमोंमें हम इच्छा-मात्रसे परिवर्तन कर सकते हैं। उसके भरण-पोषणका भार भी शरीरके मनपर है। कीटाणु कुछ नहीं कर सकता यदि हम उपवास करें। जीवके लिये यही कर्मके सिद्धान्त हैं। शरीरके कीटाणुके दृष्टान्तको स्मरण रखिये, उसे हम समष्टिमें लाकर स्पस्ट करते हैं।

जो व्यष्टिमें है, वही समष्टिमें भी। जैसे छोटे कीटाणुका संघ हमारा शरीर है, ऐसे ही समस्त प्राणियोंका संघ यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वरका शरीर है। जैसे कीटाणुओंके संघमें आविर्भूत चेतना उसका संचालन करती है, वैसे ही ब्रह्माण्डकी चेतनसत्ता ब्रह्माण्डका। उसी चेतनाको हम ईश्वर कहते हैं। शारीरिक कीटा-णुओंकी भाँति हम अपने कार्य क्षेत्रमें व्यवहार करनेको

स्वतन्त्र है, किन्तु नियमका उल्लंघन करते ही हमें दण्ड भी भोगना होगा। हमारे भरण-पोषणका दायित्व भी उसी समष्टि चेतनपर है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' का यही रहस्य है।

अपनी मानस शक्तिको जागृत करके जैसे हम शरीरमें यथेच्छ अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन कर सकते हैं, वैसे ही ईश्वर ब्रह्माण्डके विषयमें सर्व-समर्थ है। यदि कोई अणु शरीरमें विकृत हो जाये तो तुरन्त मनःशक्ति दूसरे अणुओंके द्वारा उसे ठीक करती या निकाल देती अथवा दूसरे रूपमें बदल देती है, ठीक ऐसे ही विश्वमें उत्पत्ति एवं उच्छृंखलता उत्पन्न करनेवालोंको अनेक निमित्तोंसे उस चेतन शक्तिके द्वारा दण्ड या मृत्यु प्राप्त होती है।

शरीरमें एक मन होनेके अतिरिक्त ज्ञान-तन्तुओंका एक विस्तृतजाल है और इन तन्तुओंके अनेक केन्द्र भी हैं। मन इन तन्तुओं एवं केन्द्रोंके द्वारा ही साधारण अवस्थामें कार्य करता है। हम पिछले अध्यायमें बता आये हैं कि केन्द्र स्वतः भी आवश्यकता पड़नेपर कार्य करते हैं। कोई बहुत विशेष अवस्था उत्पन्न होनेपर ही मन किसी विशेष अंगमें परिवर्तनके लिये संयत होता है। विश्वमें इन ज्ञान-तन्तुओं और चेतना-केन्द्रोंका कार्य देवताओंके द्वारा होता है। आवश्यकता पड़नेपर देवता स्वतन्त्रतः भी कार्य करते हैं। विशेष-अवस्थामें ईश्वरीय शक्तिका अवतार भी होता है।

अब अधिक अच्छी प्रकार आप समझ सकेंगे कि यह विश्व ईश्वरकी माया है। ईश्वर उस माया (अपनी मनःशक्ति) के अधीश्वर हैं और हम उसके परतन्त्र हैं। विश्व है भ्रम अवश्य, पर वह भ्रम हमारी अविद्याने नहीं उत्पन्न किया है। हम 'सब चेतन है' इस ज्ञानका अपरोक्ष साक्षात् करके भी विश्वके दृश्य-पदार्थोंका अभाव नहीं कर सकते। वे तब भी हमें उसी रूपमें दीखेंगे, जिस रूपमें आज दीख रहे हैं और तब भी हमें उन्हीं नियमोंमें चलना होगा, जिनमें आज चल रहे हैं।

शरीरका कोई कीटाणु जैसे अपने व्यवहारमें आनेवाले रसको अपना मान ले और उसकी रक्षा, वृद्धि आदिकी चिन्ता करके दुःख उठाये, वैसे ही विश्वके पदार्थोंको अपना मानकर हम उनके लिए कष्ट पाते हैं। 'यह मेरा है, और यह दूसरेका है', बस यही अविद्या है। जीवके साथ यही अविद्या रहती है। ज्ञानके द्वारा इस अविद्याका निराकरण करके—यह जानकर कि इन वस्तुओंपर किसीका अधिकार नहीं, नियन्ताकी इच्छानुसार यह प्राप्त होती तथा नष्ट होती हैं, हम क्लेशसे छूट सकते हैं। ज्ञानका यही मूल उद्देश्य है।

समष्टिके प्रतिकूल व्यवहार करनेसे ही व्यष्टिमें विकार आते हैं। यदि व्यष्टि अपनेको समष्टिके अनुकूल छोड़ दे और उस धारामें स्वभावतः प्राप्त अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन करता रहे तो स्वतः उपरोक्त ज्ञानका वह अनुभव प्राप्त कर लेगा। उसे कष्टों एवं प्रतिकूलताओंसे

अपने आप सुरक्षा मिलेगी। शक्ति तथा सुख उसकी अपनी वस्तु होंगे।

व्यष्टिकी मानसिक शक्ति समष्टिकी मानसिक शक्ति-से सम्बद्ध है। जैसे ही हम अपने अन्तरमें प्रवेश करनेमें सफल होते हैं, उस महाशक्तिसे एक हो जाते हैं। हममें उस अनन्त-शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है। किन्तु यदि हम उस मनःशक्तिका दुरुपयोग करें, तो हमें उसका घोर परिणाम भोगना होगा।

कोई कितना भी शक्ति-सम्पन्न हो जाये पर उसकी शक्ति बस महाशक्तिसे सीमित ही रहेगी। जब भी वह उसका अतिलंघन करनेकी चेष्टा करेगा, प्रतिकार पायेगा। देखा गया है कि इसी उद्दण्ड चेष्टाके कारण मनःशक्ति-सम्पन्न बड़े-बड़े महान् पुरुष पागल हो गये या मृत्युकी भेंट हुये हैं। मानसिक शक्तिके साधकको कहीं भी अहं-कारवश उच्छृंखल नहीं होना चाहिये। उसे स्मरण रखना चाहिये कि उससे भी महान् एक शक्ति है जो उसका नियन्त्रण करती है।

यदि कोई मानसिक प्रयोग पूर्ण प्रयत्न करनेपर भी सफल न हो तो उसके लिए अतिरिक्त चेष्टा नहीं करनी चाहिये। ऐसी अतिरिक्त चेष्टासे शारीरिक क्षति होती है। समझना चाहिये कि कोई अज्ञात शक्ति बाधा दे रही है। कोई भी ऐसा प्रयोग नहीं करना चाहिये जिससे समष्टिके शासनमें हस्तक्षेप होता हो।

ग्रहोंकी गति, समष्टिमें गुणोंकी प्रधानता तथा प्रकृति-

के मूल नियमोंको जानकर उनके अनुकूल रहते हुए साधक बहुत शीघ्र सफल होते हैं और महान् कार्योंके करनेमें समर्थ भी हो जाते हैं। समष्टि जिस समय प्रयोगके अनुकूल न हो उस समय प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे समष्टिमें तमोगुणकी प्रधानता हो तो सात्त्विक प्रयोग उस समय रोक देना चाहिये।

मनके कार्य और दिव्य शक्तियां

: ७ :

प्रकृतिके गर्भमें अनन्त शक्तियां भरी पड़ी हैं। न्यूटनके शब्दोंमें 'हम एक महासमुद्रके किनारे भटकनेवाले शिशु हैं, जो पुलिनपर पड़े सीपोंको पाकर प्रसन्नतासे उछल पड़ता है।' हम जिन शक्तियोंका अभी तक पता पा सके हैं, सब उस अगाध शक्तिसागरके एक सीपके तुल्य हैं।

आज चाहे हम इसे अज्ञान भले कह दें, किन्तु एक युग वह भी था जब लोग कुछ असंबद्ध शब्द पढ़कर रोगीको रोग-मुक्त कर लेते थे। आप उसे उनके विश्वास का प्रभाव कह लीजिये या मन्त्र–शक्ति, पर वह एक शक्ति थी जो अब हमारे पास नहीं है। हममें न तो उतना विश्वास ही है और न हम उन मन्त्रोंको ही जानते। फलतः डाक्टरोंकी जेब भरनेके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं। आज भी ऐसे छोटे-मोटे उस प्राचीन-विद्याके उदाहरण मिल जाते हैं, जैसे बिच्छूका विष दूर कर देना, सर्पको बुला लेना आदि।

आचार्य कौटिल्य जैसे लोगोंने औषधियोंके साथ मन्त्रोंका आश्रय लिया है। उनके अर्थशास्त्रमें इन मन्त्रों-को कोई भी देख सकता है। चरक और सुश्रुतसे वैद्यकके

प्रामाणिक ग्रन्थोंमें तथा ज्योतिष ग्रन्थोंमें भी मन्त्र-शक्तिका वर्णन मिलता है। स्वतन्त्र मन्त्रग्रन्थोंकी तो संस्कृत साहित्यमें भरमार है।

महर्षि पतंजलिने योगदर्शनमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये कई साधन बताये हैं, मन्त्र, ओषधि, तपस्या, योग और जन्मसे स्वतः सिद्धि होती है। मन्त्रके विषयमें हम ऊपर कह चुके। शेष चारमेंसे योग तो प्राणायामरूप है और उसका अर्थ है सीधे मनको प्रभावित करना। तीनपर विचार करेंगे।

बहुत-सी ऐसी ओषधियाँ होती हैं जो शरीर या बाह्य वस्तुओंमें एक आश्चर्य जनक परिवर्तन कर देती हैं। कौटिल्यने कुछ विचित्र ओषधियोंका वर्णन भी किया है। ओषधि-प्रयोगसे कोई ऐसी रासायनिक क्रिया होती है जो शरीर या वस्तुको अपने अनुकूल परिवर्तित कर देती है। ओषधिकी शक्ति माननेमें कोई विवाद नहीं।

तपस्याका अर्थ होता है जानबूझकर कष्ट उठाना। यदि हमारे शरीरमें कहीं ताप हो तो उसे दूर करना पड़ेगा। इसके लिये मनसे या ओषधिसे वहाँ विशेष शक्ति पहुंचानी पड़ेगी। इसी प्रकार विराट् प्रभुके इस शरीर रूपी विश्वका कोई प्राणी जब अपने आपको अनियमित (प्रारब्ध न होनेपर भी) संतप्त करने लगता है तो विश्वमें क्षोभ हो जाता है। शरीरमें एक स्थानपर ताप हो तो दूसरे भाग शान्त नहीं रह सकते। फलतः विश्व नियन्ता विशेषशक्ति प्रदान करके उसे शान्त करता है।

जन्मसे ही मनका ऐसा आविर्भाव हो कि वह सूक्ष्म शक्तियोंको ग्रहण कर सके तो जन्मसे भी सिद्धि हो सकती है। कोई सिद्ध पुरुष कृपा करके किसीको सिद्धि दे दे अर्थात् अपनी शक्तिके प्रयोगसे उसके मनको सिद्धि ग्रहण करनेके योग्य बना दे तो भी पुरुषमें विशेष शक्ति आजाती है।

कोई भी क्रिया हो, पर शक्ति आती मनके द्वारा ही है। चाहे तपस्यासे मनको निर्मल बनानेसे आये, चाहे ओषधिसे मनको प्रभावित किया जाये, चाहे मन्त्र जपसे मन वैसा बने, चाहे जन्मसे मनकी वैसी स्थिति हो, प्राणायामसे इस प्रकार मनमें परिवर्तन हो जाये या कोई दिव्य शक्ति या महापुरुष अपनी शक्तिसे मनको पात्र बना दे। मनके पात्र हुये बिना कुछ नहीं हो सकता।

साधनाका अर्थ है मनको स्थूल दशासे सूक्ष्म दशामें पहुंचाना। हम पहले बता आये हैं कि विश्वके कार्य संचालनके लिए अनेक दिव्य शक्तियां हैं। जैसे हमारे शरीरमें बहुतसे ज्ञान-तन्तु या ज्ञानकेन्द्र। सबके मूलमें एक अखण्ड चित्-शक्ति व्याप्त है। मन सूक्ष्मताकी जिस स्थितिमें पहुंचता है, समष्टिके उस स्तरकी शक्तिसे उसका सम्बन्ध हो जाता है मनमें उस शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है।

उदाहरणके लिये रेडियोका यन्त्र समझ लीजिये। यन्त्रके बटनको हम जितनी दूरीके शब्दोंको सुनना है उतनेके मीटर नम्बरपर कर देते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि यन्त्रकी स्थिति हम ऐसी कर देते हैं कि वह

उतनी दूरके शब्दको ग्रहण करे। शब्द तो सभी व्याप्त होते हैं और सभी यन्त्रके समीप रहते हैं। इसी प्रकार मनको हम जिस स्थितिमें पहुंचाते हैं, वह उसी स्तरकी शक्तिसे संयुक्त हो जाता हैं।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, अतः इसके प्रत्येक कार्य भी त्रिगुणात्मक हैं। परमात्माके अतिरिक्त कोई भी शक्ति त्रिगुणसे परे नहीं। दिव्य शक्तियोंमें कोई सात्त्विक, कोई राजस, कोई तामस और कोई मिश्र गुणोंसे युक्त हैं। जिस शक्तिसे सम्बन्ध करना होता है, मनको उसी प्रकारका बनाना पड़ता है। तामसिक कार्योंसे तामस शक्तियां प्राप्त होती हैं और स्थूल होनेके कारण उनतक गति भी शीघ्र होती है।

हम मनको जिस दिव्य शक्तिसे सम्बन्धित करते हैं, मन भी वैसा ही हो जाता है। फल यह होता है कि मृत्युके उपरान्त हमें उसी शक्तिका सान्निध्य होता है। घोर शक्तियोंके उपासकोंकी घोर गति होती है। भूतोंके उपासक भूत और देवोंके उपासक देवता होते हैं। आर्ष-शास्त्रोंने इसीलिये तामस साधन एवं तामस शक्तियोंकी निन्दा की है और उन्हें त्याज्य बतलाया है।

दिव्य शक्तियाँ परमात्माकी ही शक्तियाँ हैं और सृष्टिमें उनका अपना विशेष कार्य है। अपने कार्यमें आवश्यकता पड़नेपर वे उपयुक्त पात्रपर कृपा करके विशेष शक्ति प्रदान भी करती हैं। साधनके द्वारा किसी शक्तिके कार्यमें सहायता करके उसकी प्रसन्नताका सम्पा-

दन भी किया जा सकता है। यदि किसीके द्वारा किसी शक्तिके अधिकारमें हस्तक्षेप या उसके कार्यमें अड़चन पहुँचती हो तो वह दण्ड देती है और साधनमें बाधा भी उपस्थित करती है।

एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिये, तामससे राजस राजससे सात्त्विक और सात्त्विकसे भी गुणहीन (परमेश्वर) की शक्ति महान् है। तामससे उत्तरोत्तर गुण सूक्ष्म होते हैं और जो जितना सूक्ष्म होगा, वह उतना ही महान् भी। तामसिक शक्ति या तामसिक शक्ति प्राप्त साधक राजस शक्ति और राजस शक्तिके साधकका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। राजस शक्ति सात्त्विक पुरुषको प्रभावित नहीं कर सकती और जो प्रभुके भक्त हैं, उस जगदाधारकी शरण हैं, उनके सम्मुख सभी शक्तियोंको झुकना पड़ेगा। कोई भी भौतिक या दिव्य शक्ति उनका अनिष्ट करनेमें समर्थ नहीं।

मनमें स्वतः भी अनेक शक्तियाँ हैं, क्योंकि अनन्त वह भी तो विश्वेशका व्यष्टिमें प्रतिनिधि है। फल यह होता है कि कौन-सा कार्य विशुद्ध मानसशक्तिसे हुआ और किसमें दैवी शक्तियोंका कार्य साहचर्य है, यह निर्णय करना सरल नहीं रह जाता। पर यदि मनुष्य केवल अपने मनको ही पवित्र करे तो स्वतः उसे समस्त दिव्य-शक्तियोंका सहयोग मिलेगा और मनके पूर्णतः निर्मल होनेपर तो उसमें स्वयं परम प्रभुका आविर्भाव होगा, जो सदाके लिये पुरुषको इस भवतापसे विमुख कर देगा।

मनपर भविष्य
एवं
अज्ञात वर्तमानका प्रभाव

: ८ :

प्रायः यह अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको होगा कि आनेवाली आपत्तियोंके पहले ही मन विकल हो जाता है। ऐसा लगता है कि कोई मनको चंचल कर रहा है। सहसा अकारण भीति एवं अनिष्टकी कल्पनाएँ उठने लगती हैं। इसी प्रकार आनेवाले शुभ कार्यके पहले मन प्रसन्न हो जाता है। ऐसी बहुत-सी घटनाओंका वर्णन इतिहासमें आता है कि पत्नीने आशंकासे भीत होकर अद्भुत ढंगसे (जैसा वह सदा नहीं करती थी) पतिको बाहर जानेसे रोका और उसके आग्रहकी अवहेलना करनेपर पतिपर आपत्ति आयी।

भविष्यकी घटनाओंके अतिरिक्त मन अज्ञात वर्तमानकी सूचना भी देता है। हमारा कोई प्रिय सम्बन्धी विदेशमें हो और वहाँ उसपर कोई आपत्ति आजाये तो अकस्मात यहाँ हमारा मन आकुल हो उठेगा। किसी सम्बन्धीकी विदेशमें मृत्यु होनेपर तो अवश्य ही उस व्यक्तिके दूरस्थ

सम्बन्धियोंके मनमें उदासी छा जाती है। मन कहीं लगता नहीं, कोई कार्य प्रिय नहीं लगता। बार-बार चित्त रोने या एकान्तमें भाग जानेको चाहता है। ये बातें सर्व-साधारणके अनुभवमें आती हैं।

सृष्टिमें कोई काम सहसा और अशृंखलित नहीं होता। प्रत्येक क्रिया अपने नियमसे और क्रमवार होती है। जब कोई महान् परिवर्तनकारी कार्य होना होता है तो उसकी भूमिका पहलेसे प्रस्तुत होने लगती है। आँधी आनेके पूर्व हवा बन्द हो जाती है, फिर शब्द होता है और पहले हल्का झोंका आता है। इसी प्रकार समस्त क्रियाओंके क्रम हैं। यह दूसरी बात है कि मानव अपनी कृत्रिम क्रियाओंके द्वारा प्रकृतिसे दूर जा पड़ा है, अतः वह उन सूचनाओंका अनुभव नहीं कर पाता। चींटी, मकड़ी आदि वर्षाकी सूचना बहुत पहले पा जाती हैं। दूसरी प्राकृतिक सूचनाओंको भी पशु पक्षी अनुभव करने लगते हैं।

मनके दो भाग हम पहले बता आये हैं, अन्तर्मन और बहिर्मन। हमारी अस्वाभाविक एवं कृत्रिम चेष्टओंसे बहिर्मन तो सर्वथा प्रकृतिसे दूर हो गया है, किन्तु अन्तर्मन प्रकृतिके निकट और स्वाभाविक अवस्थामें रहता है। बहिर्मनकी कृत्रिमता अन्तर्मन प्रायः ग्रहण नहीं करता। अतएव प्राकृतिक सूचनाओंको अन्तर्मन ग्रहण करता है। क्योंकि बहिर्मन प्रकृतिसे दूर हो गया है। अतः वह अन्तर्मनकी ग्रहण कीहुई सूचनाओंको भी अपनी बाह्य चंचलता

के कारण समझ नहीं पाता। किसी विशेष समय जब अन्तर्मन किसी महत्वपूर्ण सूचनाके कारण बहुत प्रभावित हो उठता है तो बहिर्मनपर भी उसका प्रभाव पड़ता है। बहिर्मन यद्यपि अपनी बाह्य दृष्टिके कारण उस सूचना-को ठीक-ठीक समझ नहीं पाता, किन्तु उसके प्रभावसे परे भी नहीं रह पाता। हम इसी अवस्थामें उदासी और बेचैनीका अनुभव करते हैं।

प्रत्येक मनुष्यका दूसरेसे सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध की व्याख्या एक पूरे पृथक् अध्यायमें किया जायगा। हमारे किसी सम्बन्धीपर जब कोई आपत्ति आती है तो हमारे अन्तर्ममनका जो उनसे सम्बन्ध है, वह सूत्र उसे प्रभावित करता है। बहिर्मन पूर्ववत् उस अन्तर्मनके प्रभावको अनुभव तो करता है, पर उसका स्पष्टीकरण नहीं कर पाता।

मेस्मरिक निद्रामें पात्रके जब बहिर्मनको सुप्त कर दिया जाता है तो पात्रका अन्तर्मन काम करता है और वह अपनी ग्रहण की हुई सूचनाओंके आधारपर दूर एवं भविष्यकी बातोंको भी बताता है। जिस पात्रका अन्तर्मन जितना विषमजालसे रहित होगा, वह उतनी ही स्पष्ट सूचनाओंको ग्रहण करके बता सकेगा। ध्यानके द्वारा बहिर्मनका निरोध करके अन्तर्मनकी सूचनाओंके आधारपर योगी भविष्य एवं दूरकी बातोंको बताता है। यह प्रक्रिया प्रारब्धवादको माननेपर और स्पष्ट हो जाती है, अतः प्रारब्धवादके अनुसार अब इसपर विचार करेंगे।

आर्ष शास्त्रोंके अनुसार भावी कोई वस्तु नहीं। जो हमारे लिये भूत और भविष्य है, वह सृष्टि-नियन्ताके लिये दोनों वर्तमान। सर्वज्ञके लिये समयका व्यवच्छेद नहीं होता। हमारे ज्ञानपर समय पर्दा डाल देता है, अतः हमारे लिये भूत और भविष्यका बन्ध भी है। जब मन या मनका सूक्ष्म अंश जो उस व्यापक तत्त्वसे सम्बन्धित है, समस्त ज्ञान अपने अन्दर रखता है। अन्तर्मुखी वृत्तिसे उस ज्ञानका साक्षात् किया जा सकता है।

जन्मसे पूर्व ही मनुष्यके संचित कर्मोंसे उसके प्रारब्ध कर्मोंका पृथक् गठन होता है। मनुष्य जीवनका सम्पूर्ण व्यवहार इन्हीं प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार होता है। प्रारब्ध कर्मोंके संस्कार कहीं बाहर तो रहते नहीं, वे अन्तर्मनमें ही रहते हैं। अतः उनमेंसे जिस संस्कारको प्रकट होना होता है, वह पहले अन्तर्मनको प्रभावित करता है। संस्कार जितना प्रबल होता है, मनपर उतना ही अधिक प्रभाव भी पड़ता है। बाह्य विषयोंमें लीन बहिर्मन अन्तर्मनके साधारण प्रभावोंको अनुभव नहीं करता। किन्तु भारी प्रभावोंसे वह प्रभावित होता है। बाह्यमन विषयोंमें जितना कम आसक्त होगा उतना अधिक वह प्रभावके परिणामको समझ सकेगा। यदि वह विषयोंको छोड़कर उस समय अन्तर्मुख हो सके तो उस प्रभावके भावी परिणामका ज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। परिणाम जैसा सुखद या दुखद होनेवाला होता है, मनपर वैसा ही प्रसन्नता या उदासीका प्रभाव पड़ता है।

सृष्टिमें कोई पदार्थ अपनी पृथक् स्वतन्त्रता तो रखता नहीं, सब संसारकी वस्तुओं एवं व्यक्तियोंका परस्पर सम्बन्ध है। जैसे समुद्रमें एक स्थानपर क्रिया होनेसे पूरे सागरके जलपर प्रभाव पड़ता है, वैसे ही संसारके प्रत्येक पदार्थकी क्रियाका दूसरेपर प्रभाव पड़ता है। किन्तु जैसे जलमें जहाँ क्षोभ हुआ वहाँके निकटके जलपर अधिक प्रभाव पड़ता है और दूरीके क्रमसे प्रभाव कम होता जाता है, वैसे ही सृष्टिकी घटनाओंका प्रभाव उनसे निकट सम्बन्धके पदार्थोंपर अधिक और दूसरोंपर उत्तरोत्तर कम।

वैसे तो सृष्टिके प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तुके कार्यका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है। इस प्रभावको अपने निजी कार्योंमें मनके व्यस्त होनेके कारण हम अनुभव नहीं कर पाते। पर जो हमारे निकटके सम्बन्धी हैं, जिनका हमारा परस्पर मानसिक सम्बन्ध है, (चाहे वह सम्बन्ध प्रेमका हो या द्वेषका) उनपर जब कोई भारी आनन्द या आपत्तिका प्रभाव पड़ता है तो सम्बन्धित होनेके कारण हमारा मन भी प्रभावित हो जाता है। मन जैसे दूरस्थ प्रेमीके संकटसे खिन्न होता है, वैसे ही दूरस्थ शत्रुके संकटसे प्रसन्न भी होता है।

हमारा स्वार्थ विश्वके साथ बँधा है और विशेषतः उन लोगोंके साथ जिनका हमारा निकटका कोई भी सम्बन्ध है। हमारा प्रारब्ध उनके साथ बँधा हुआ है। उनपर कोई सुख दुःख आनेपर हमारे प्रारब्धके संस्कार

भी वैसे ही होते हैं। अन्तर्मन उस संस्कारसे प्रभावित होता है और बाह्य भी उसीसे प्रभावित होता है।

किसी भी प्रयोगके द्वारा हो, चाहे वह मेस्मरिक निद्रा लाकर हो, चाहे इच्छा-शक्तिसे बाह्य मनको कुंठित करके हो, चाहे ध्यानसे या औषधि-प्रयोगसे हो, बाह्यमन की प्रवृत्तिको रोक देनेपर अन्तर्मनके द्वारा समस्त भूत, वर्तमान एवं दूरकी घटनाओंको जाना जा सकता है। भूत कालके कार्योंका संस्कार तो मनमें होता ही है, वर्तमान और भविष्यका उपरोक्त ढंगसे उसपर प्रभाव पड़ता है। इसमें एक ही बाधा होती है, अन्तर्मनके अनुभवमें भी हमारी वासनाओंके विषमजाल बाधा डालते हैं। इसलिये जिस पात्रपर ऐसा प्रयोग करना हो, उसके अन्तर्मनका स्वच्छ होना आवश्यक है।

दूसरोंके मनसे हमारे मनका सम्बन्ध

: ९ :

पिछले अध्ययायमें बता आये हैं कि दूरपर किसी सम्बन्धीके बीमार होनेपर हमारा मन आकुल हो उठता हैं। जो अत्यन्त गाढ़ प्रेमी हैं उनकी भावनाएं समान हो जाती हैं। अमेरिकामें एक ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति हो चुका है जिसके सम्मुख कोई अंक लिखनेसे उसकी पत्नी ज्योंकी त्यों उन अंकोंको दूसरे कमरेमें लिख देती थी। दूसरोंके चित्तकी बात बतानेवाले योगी अब भी यत्र-तत्र भारतमें मिल जाते हैं।

मेस्मरिक निद्रामें अपनी मानसिक शक्तिके द्वारा प्रयोक्त पात्रके बहिर्मनको निद्रित करता है और उसके अन्तर्मनमें अपने विचारोंको प्रविष्ट करता है। यदि दो व्यक्तिके मन परस्पर सम्बद्ध न हों तो एक दूसरेको किसी भी दशामें प्रभावित नहीं कर सकता। एक वस्तु-का तभी दूसरीपर प्रभाव पड़ता है जब उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध हो।

मन भावनात्मक है और भावनाएँ व्यापक होती हैं। शब्द जो कि भावनाका कार्य है, जब व्यापक होता है

तो भावना सीमित नहीं रह सकती। शब्दके पूर्व रूपको भावना कहते हैं। ये भावनाएँ मनसे उठतीं और सम्पूर्ण नभमें व्याप्त हो जाती हैं। प्रत्येक मनको रेडियोके ब्राडकास्टिंग स्टेशनके समान समझ लीजिये। आप अपनी प्रत्येक भावनाको विश्वके लिये प्रसृत (ब्राडकास्ट) कर रहे हैं।

यदि दो प्रसारक (ब्राडकास्ट) केन्द्रोंको एक आवर्तपर कर दिया जाये तो वे एक दूसरेके विस्तृत शब्दोंको ग्रहण कर लेंगे। शक्तिशाली विस्तारक यन्त्र उच्च कम्पन आकाशमें उत्पन्न करके अल्पशक्ति विस्तारक यन्त्रको विफल भी बना देता है। ठीक इसी प्रकार दो समान भाव-दशामें स्थित मन एक दूसरेकी भावनाको जान लेते हैं। इसे इस प्रकार और स्पष्ट समझिये। एक सारंगी लीजिये और एक शीशेका ग़िलास। सारंगीके स्वरको गिलासकी झंकारसे मिलाइये। गिलासको तबतक ठोंकते रहिये जबतक सारंगीकी झंकार उससे पूर्णतः एक न हो जाय। अब गिलासका ठोंकना बन्दकर दीजिये। क्या हुआ ? आप केवल सारंगी बजाते हैं, पर गिलास स्वतः बोलता है और सारंगीके स्वरके साथ उसका स्वर नीचा-ऊँचा भी होता है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि दोनोंके अणुओंके कम्पन स्वरके मिलानेके साथ एक हो गये। ठीक इसी प्रकार जब दो मनकी गति या वृत्ति एकाकार हो जाती है तो एककी क्रिया दूसरेमें भी प्रतिबिम्बित होती है।

जो हमारे प्रेमी हैं उनका हम और हमारा वे चिन्तन करते रहते हैं, फल यह होता है कि हमारी भावनाएं सर्वांशमें नहीं तो एकांशमें एक हो ही जाती है। फल यह होता है कि उसपर कोई बहुत बड़ा प्रभाव पड़नेपर हमपर भी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है। जो हमारा शत्रु है उसका भी हम चिन्तन करते हैं, अतः उसपर पड़े प्रभावसे भी हम प्रभावित होते हैं। हमारे मनको मित्रके दुःखमें दुखी होने और शत्रुके दुखमें प्रसन्न होनेका स्वभाव हमने डाल रखा है, अतः ऐसा ही प्रभाव मन ग्रहण करता है।

योगी ध्यानके द्वारा मनकी तरंगोंको उस व्यक्तिसे मिलाता हैं जिसके हृदयकी बात जाननी है। जहाँ वह अपनी इस क्रियामें सफल हुआ, उसके मनपर दूसरेके मनकी क्रियाएँ प्रति-फलित होने लगेंगी। मेस्मरिक अपने नाटक और विद्युत्कणके द्वारा और हिप्नाटोजिस्ट अपनी सूचनाओंके द्वारा पात्रके मनको अपने मनसे मिलाता है। पात्र यदि विरोधी धारणा करने लगे तो प्रयोक्ता कभी सफल नहीं होगा। क्योंकि ऐसी दशामें पात्रके मनकी गति एकीभूत होनेके बदले विपरीत गति करती रहती है। प्रयोक्ताकी मानसिक शक्ति बहुत प्रबल हो तो दूसरे विरोधी मनपर विजय पाना सम्भव भी होता है।

जब एक आदमी आपके पास आकर बैठता है, उसके शरीरके परमाणु और उसकी विद्युत् शक्ति आपमें

प्रवेश करने लगती है और आपकी उसमें। उसके विचार उसके परमाणुओंमें रहते हैं और वे आपको प्रभावित करते हैं। पिछले अध्यायमें 'मन कैसे बनता है ?' की व्याख्या करते हुये इस विषयका स्पष्टीकरण किया गया है।

जब आप किसी भी व्यक्तिके विषयमें कुछ सोचते हैं तो आपकी मानसिक विचार - धारा उसकी ओर प्रवाहित होती है। आप अपने उन विचारोंको उसकी ओर फेंकते हैं। आपका विचार जितना प्रबल और टिकाऊ होगा, उसपर उतना ही अधिक प्रभाव पड़ेगा। 'प्रेम स्वतः प्रेमीको खींचता है' इस सिद्धान्तमें यही रहस्य है। आप मनमें जिससे घृणा करते या द्वेष करते हैं, उसके मनमें भी आपके प्रति वैसे ही भाव आज नहीं तो कल अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। चेष्टा या शब्दोंसे भावोंको न प्रकट करनेके कारण आप उसके समीप अच्छे नहीं रह सकते। आपके विचार वहाँ अवश्य प्रतिक्रिया करेंगे।

मनुष्य ही नहीं, पशुपक्षियोंपर भी विचारका प्रभाव होता है। मनुष्यकी अपेक्षा प्रकृतिके वे निकट अधिक रहते हैं, अतः उनपर अधिक प्रभाव पड़ता है। शिकारी किसी भी वेषमें हो, पक्षी उसे देखते ही चिल्लाने लगेंगे। आप किसी पक्षीको मारने या पकड़नेके विचारसे उसीकी ओर चलें तो वह उड़ जायगा। पर यदि आपने पक्षीको नहीं देखा और उसके लिये आपके मनमें कोई भावना

नहीं बनी तो समीपसे निकल जानेपर भी वह बैठा रहेगा। बच्चा डरता है, अतः गृहपशु उसे डराते हैं। आप नहीं डरते, अत: वे आपसे डरते हैं। देखा गया है और उद्धरण मिलते हैं कि समदर्शी एवं अहिंसक महा-पुरुषोंके सामने सर्प, व्याघ्र प्रभृति क्रूर पशु भी सीधे हो जाते हैं। उनमें प्रतिहिंसाकी भावना नहीं उठती।

सबसे प्रेम करनेवाले महापुरुषोंके सम्मुख जाकर उनके शत्रु भी जो उनके अनुकूल हो जाते हैं, इसका कारण उनकी प्रेम भावना है। यदि हमारे मनमें सहानु-भूति एवं कल्याणके विचार हों तो दूसरेके विरोधी विचारोंको लौटना होगा और भूमि न मिलनेके कारण वे नष्ट हो जायेंगे।

दो व्यक्तियोंकी मानसिक शक्तियां परस्पर समान तो होतीं नहीं। यदि ऐसे दो व्यक्तियोंके मनमें विरोधी भावनाओंका उत्थान हो तो ऐसी स्थिति हो जायेगी जैसे एक स्थानमें दो सारंगियां भिन्न-भिन्न स्वरसे बजायी जायें। जिस साँरगीका स्वर ऊंचा होगा, वही सुनायी पड़ेगा और दूसरा उसमें विलीन हो जायेगा, ऐसे ही विरोधी भावनाओंमें प्रबल भावना दूसरीपर विजय पाती है और दूसरे मनको उसके अनुकूल बनना पड़ता है।

शंका और सन्देह मानसिक प्रयोगोंके सबसे बड़े शत्र हैं। सफलतामें पूर्ण विश्वास रखकर प्रयोग करना चाहिये। दूसरेके मनपर आपका प्रभाव पड़ता तो है ही,

किन्तु वहां यदि विषम-स्थिति है तो विलम्बसे सफलता होगी। सम्बन्ध-स्थापनके दो मार्ग हैं, अपने मनको दूसरेके मनकी स्थितिमें पहुंचाकर और दूसरेके मनको निद्रित करके अपनी दशामें लाकर। पहला मार्ग उनका है जिनका अपने मनपर पूर्ण अधिकार है। यह कभी विफल न होनेवाला उपाय है। दूसरा उपाय मेस्मराइज्म-पद्धतिका है और उसमें धैर्यकी आवश्यकता है।

यदि आप मानसिक-प्रयोगोंमें सफलता चाहते हैं तो आपमें प्राणी मात्रके प्रति प्रेम, दया एवं उपकारकी भावना होनी चाहिये। किसीके प्रति भी घृणा, क्रोध एवं अपकारकी भावना आपमें स्थान न पाये। वासना-पूर्ति एवं स्वार्थ-साधनके लिये कभी आपमें प्रवृत्ति नहीं। स्मरण रहे, कलुषित कामोंमें प्रयुक्त करनेपर आप विफलता तो पायेंगे ही, शक्तिसे हाथ भी धो बैठेंगे।

स्वप्न क्या हैं ?

: १० :

मनुष्यकी तीन अवस्थाएँ साधारणतः मानी गयी हैं, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। मनके सब भाग अपना काम जब करते रहते हैं तो वह जाग्रत अवस्था होती है। संचालक मनके अतिरिक्त शेष सब भाग जब विश्राम करते हैं तो उस अवस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। जब संचालक मनके अतिरिक्त कोई और भाग भी जागृत रहता है और बहिर्मन विश्राम करता है तो वह अवस्था स्वप्न होती है।

स्वप्नके सामान्यतः तीन भेद होते हैं। सामान्य-स्वप्न, विशेष स्वप्न और अस्वस्थ स्वप्न। अन्तर्मन (चित्त) और संचालक मन तो जागता रहे, किन्तु निर्णायक-मन (बुद्धि) और बहिर्मन सोता रहे, यह साधारण स्वप्नकी अवस्था है। विशेष स्वप्नमें भी अवस्था तो यही रहती है, किन्तु अन्तर्मन बहिर्मनके समान संचालक-मनको प्रभावित करने लगता है। सामान्य स्वप्नमें अन्तर्मन संचालक मनको प्रभावित न करके अपने आप ही उधेड़-बुन करता रहता है। अस्वस्थ स्वप्न तब होता है जब विशेष स्वप्नकी अवस्थामें निर्णायक मन भी जाग्रत रहता है और केवल बहिर्मन सोता है।

हम जो कुछ देखते, सुनते और सोचते हैं, स्वप्नमें वही बातें हमें दीख पड़ती है। मनपर जिन अज्ञात प्रभावों (संग, भविष्य या आज्ञात वर्तमान घटनाओं) का जिनका वर्णन पहले अध्यायमें हो चुका है, दृश्य स्वप्नमें आता है। मनपर किसी भी प्रकारसे जो कोई प्रभाव पड़ता है, वही वह स्वप्नमें प्रकट करता है। पर प्रकट करनेकी प्रणाली निर्णायक मनके जागृत न होनेके कारण विशृंखल होती है, अतः वे दृश्य असम्बद्ध होते हैं। कभी-कभी चिरविस्मृत भूतकाल एवं वर्तमानके संस्कारोंको मिला-कर वह विचित्र इन्द्रजाल बनाता है।

मनुष्य तभी सुखसे सो सकता है, जब बाहरका वातावरण शान्त रहे। यदि कोई आपको पकड़कर हिलाता-डुलाता रहे तो आप नहीं सो सकते। इसी प्रकार गाढ़ सुषुप्ति या अच्छी नींद तब आती है, जब शरीर पूर्णतः स्वस्थ और मन निश्चिन्त रहे। शारारिक या मानसिक अस्वस्थतामें ही स्वप्न दिखायी पड़ते हैं। साधारण स्वप्न प्रायः आमाशयकी कार्याधिक्यतासे आते हैं। निद्राके समयमें भी जब संचालक मनको आपका अतिरिक्त भोजन पचाना पड़ता है तो वह अपने काम-को वेगसे करता है। फल यह होता है कि ज्ञानतन्तु शिथिल न रहकर झंकृत रहा करते हैं और इससे अन्तर्मन विश्राम नहीं कर पाता।

जागृत समयमें अन्तर्मनको बहिर्मनके प्रतिबन्धक होनेके कारण अपने भीतर दबे संस्कार (विषम जाल)

प्रकट करनेका समय नहीं मिलता। जब बहिर्मन सो-जाता है तो इस समय वह अपने संस्कारोंको प्रकट करता है। वीर्यनाशसे जब स्नायु दुर्बल हो जाते हैं तो वे संचालक मनकी साधारण क्रियाको भी नहीं सह पाते। इस स्थितिमें भी स्नायु-कंपनके कारण अन्तर्मन विश्राम नहीं कर पाता। अनिद्रा-रोग इसी अवस्थामें होता है। रोगीको कभी सुषुप्ति आती ही नहीं। वह केवल स्वप्न देखता रहता है। अत्यधिक स्नायु-दुर्बलता हो जानेपर तो बहिर्मन भी नहीं सो पाता और तब सर्वथा निद्राभाव हो जाता है। ऐसा व्यक्ति पागल हो जाता है। आमाशयकी साधारण क्रियासे जो स्वप्न दिखायी देते हैं वे जगनेपर स्मरण नहीं रहते। जैसे-जैसे यह खराबी बढ़ती जाती है, स्वप्न स्मरण रहने और जगनेपर भी मनपर अपना प्रभाव रखने लगते हैं।

विशेष स्वप्न प्रायः मानसिक चिन्ताओंसे होता है। साधारण स्वप्न और विशेष स्वप्नमें यही अन्तर है कि साधारण स्वप्नका स्वप्न-समयमें शरीरपर प्रभाव नहीं पड़ता और विशेष स्वप्न स्वप्न-समयमें शरीरको प्रभावित भी करता रहता है। उदाहरणके लिये आप एक स्वप्न तो ऐसा देखते हैं कि स्वप्नमें वीर्यपात होगया, किन्तु उठनेपर ऐसा हुआ मिलता नहीं। यह साधारण स्वप्न है। विशेष स्वप्न वह है जिसमें स्वप्नमें वीर्यपात होता है और उठनेपर सचमुच ऐसा ही आप ठीक पाते हैं।

जब हम किसी बातको बहुत सोचते हैं या कोई ऐसी घटना हो जाती है जिसका प्रभाव मनपर गहरा पड़ता है तो अन्तर्मन उसे ग्रहण कर लेता है। क्योंकि अन्तर्मनने ऐसी बात ग्रहण की है जिसके विषयमें कुछ करनेके लिये बहिर्मन बराबर सोचता रहता था और किसी परिस्थिति-विशेषके कारण नहीं कर पाता था, अतः अन्तर्मन उस कार्यको करनेकी चेष्टा करता है और संचालक मनको प्रभावित करता है। फलतः शरीर भी उस स्वप्नके प्रभावमें आजाता है।

अन्तंमनपर परिस्थितिके बन्धन तो होते नहीं, निर्णायक मनके सुप्त होनेके कारण वह उचित-अनुचित सोच भी नहीं सकता, अतएव वह चेष्टा करके बहिर्मनकी सूचनाको पूर्ण करना चाहता है। हम पहले बता आये हैं कि संसारका यह रूप आपके भीतरसे आता है। मान लीजिये कि आप एक व्यक्तिसे बहुत रुष्ट हैं, उसे मारना और गाली देना चाहते हैं। परिस्थिति वश आप ऐसा कर नहीं सकते, पर चाहते हैं और इसके लिये उद्विग्न हैं। सोनेपर अन्तर्मन उस व्यक्तिको अपने अन्दर पाता है, वह संचालक मनको उसे दंड देनेकी प्रेरणा करता है, फलतः आप सोते-सोते गाली देने, दांत पीसने और हाथ पटकने लगते हैं।

यदि आमाशयमें इतनी अधिक खराबी हो कि वह ज्ञान-तन्तुओंको अधिक प्रभावित करे तो भी अन्तर्मन संचालक मनको आज्ञा देने लगता है और उसका शरीर-

पर प्रभाव पड़ता है। उत्तेजक भोजनसे इसी कारण स्वप्नदोष होता है। मानसिक दुर्बलता, कठोर चिन्तन, और आमाशयकी विशेष गन्दगीसे विशेष स्वप्न आता है। यह एक प्रकारका रोग समझना चाहिये। मनुष्य ऐसे स्वप्नोंमें चिल्लाता है, रोता है, हंसता है, गाली बकता है, हाथ-पैर पटकता है तथा और भी ऐसे ही कार्य करता है। जागनेपर उसे इन कामोंका तनिक भी पता नहीं होता।

स्वप्नकी तीसरी दशा—अस्वस्थ स्वप्न एक भयंकर रोग है और यह बहुत कम लोगोंको होता है। मेस्मरिक जब किसी पात्रको निद्रित करके कुछ समय पश्चात किसी कार्यको करनेकी आज्ञा देता है और फिर पात्रको जागृत कर देता है तो उस कार्यको करनेके समय पात्र अपने आप इस अस्वस्थ स्वप्नकी अवस्थामें जा पहुंचता है। पात्र वह काम करता है और पुनः सो जाता है। जगनेपर उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता।

इस अवस्थामें मनुष्य जागृतकी भांति उठकर सब कार्य करता है। वह मीलोंकी यात्रा करता है, गेंद खेलता है, पुस्तकें लिखता है और ऐसे वह सब काम कर सकता है जो जागृतमें करता। कभी-कभी तो ऐसे काम भी कर डालता है जो जागृतमें उसके लिये असम्भव थे। योरोपमें इस अवस्थाके ऐसे कई व्यक्तियों का उद्धरण मिला है जो सोतेसे उठकर यात्रा कर देते या कोई ऐसी भाषा बोलने या लिखने लगते, जिसे वे

नहीं जानते थे। मैंने एक ऐसे व्यक्तिको देखा है जो इस अवस्थामें उठकर मकानके चक्कर लगाता, बीड़ी पीता और फिर सो जाता। पुरुष इस अवस्थामें कोई अनियमित और असंबद्ध कार्य नहीं करता। किन्तु जगनेपर उसे अपने किये कार्योंकी स्मृति नहीं रहती।

बिना स्नायु-दुर्बलताके यह अवस्था नहीं आती। दुर्बल मानस व्यक्तिके मनमें जब कोई ऐसी भावना ज्ञात या अज्ञातरूपसे दृढ़तासे प्रविष्ट हो जाती है, जिसके अनुसार कार्य होना चाहिये तो अन्तर्मन निर्णायक मनको जागृत कर लेता है या निर्णायक मन स्वयं चौंककर बहिर्मनके सोते होनेके कारण अन्तर्मनसे वह कार्य लेता है और संचालक मन उनकी आज्ञाका पालन करता है। अन्तर्मनमें गुप्त संस्कारोंका ज्ञान भी उस समय उपलब्ध रहता है, अतः उस समय ऐसे भी कार्य होते हैं जो जागृतमें असम्भव थे।

स्वप्नकी सत्यता

: ११ :

आर्ष शास्त्रोंमें स्वप्न विज्ञानका बहुत सूक्ष्म विवेचन हुआ है। 'मनपर भविष्य एवं अज्ञात वर्तमानका प्रभाव' शीर्षक लेखमें बताया जा चुका है कि मनपर किस प्रकार भविष्य-घटनाओंका प्रभाव पड़ता है। जागृत अवस्थामें बाह्यमनकी बहिर्मुखताके कारण हम पूर्णतः उस प्रभावका अनुभव नहीं कर पाते। किन्तु स्वप्नके समय जब बाह्य-मन सोता होता है तो अन्तर्मन अपने प्रभावोंका स्पष्टी-करण करनेमें स्वतन्त्र होता है।

दूरपर कोई अनिष्ट या सुख किसी आत्मीयको हुआ हो अथवा कोई निकट भविष्यमें महान् घटना होने वाली हो तो उसका प्रभाव संस्कारके रूपमें जिसे समझनेके लिये कम्पन कह सकते हैं चित्तपर पड़ता है। कम्पन जो आकार बनाता है, स्वप्नमें चित्त इसीको स्पष्ट करता है। होने वाली घटनाका वह चित्र नहीं होता, बल्कि उस घटनाका जो कम्पन चित्तपर पड़ रहा है, उस कम्पन द्वारा निर्मित वह चित्र होता है। घटना बहुत प्रभावशाली या निकटकी हो तो उसका ज्योंका त्यों प्रतिबिम्ब भी पड़ जाता है, पर प्रायः स्वप्न चित्रोंके आधारपर घटनाको ढूंढ़ना पड़ता है। आर्ष ग्रन्थोंमें इस

सूक्ष्म विवेचनके आधारपर बताया गया है कि कैसा स्वप्न दीखे तो कौन-सी घटना होनेवाली समझना चाहिये।

उदाहरणके लिये स्वप्नमें अपनेको हाथी दौड़ाये, तैल लगाये या अपने शरीरमें अंग-भंग दीखे, गधेपर बैठकर दक्षिण जाते दिखायी दें तो अपनी या किसी सम्बन्धीकी निकटमें मृत्यु समझनी चाहिये। श्वेत पुष्प, श्वेतवस्त्रावृता स्त्री, देवता या दधि और फल दीखें तो शुभ कार्य होनेवाला है, ऐसा अनुमान करना चाहिये। जलवृष्टि या जलप्लावन दृष्टि पड़े तो उसे अनावृष्टिकी सूचना समझना होगा। इस प्रकार स्वप्न-फलोंका विस्तारसे शास्त्रोंमें वर्णन है। जिन्हें स्वप्नफल जानना हो उन ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

आपको सम्भव है यह अनुभव हो कि किसी विशेष कार्यकी चिन्ता करते समय आप कभी-कभी शरीरको भी भूल जाते हैं। बड़ी देरमें तो स्मरण होता है और तब आश्चर्य होता है कि इतनी देर तक हम इस विषयको सोचते रहे! उस समय आपके आसपास क्या हो रहा था, इसका भी आपको पता नहीं होता। जो साधक आरम्भमें जप करने बैठते हैं, उन्हें इसका अवश्य अनुभव होगा। माला पूरी होनेपर वे चौंकते हैं कि अंगुलियाँ चलती रही और मन शरीरको भी छोड़कर अपनी उधेड़-बुनमें मग्न रहा। यह भी एक प्रकारकी स्वप्नके समान अवस्था है।

इस उपरोक्त अवस्थामें बाह्यमन एक कल्पनाको

लेकर पृथक् हो जाता है, निर्णायक मन उसके साथ होता है, संचालक मनको आपने जैसी आज्ञा जप करने, रास्ता चलने या और किसी कार्यकी दे रखी है, वह शरीरके द्वारा उसे करता रहता है। यदि इस अवस्थामें अन्तर्मनको जागृत करके कार्यशील किया जा सके तो वह समस्त निकट भविष्यकी घटनाओंके चित्र ला देगा। इस समय वह तटस्थ शान्त रहता है। यह योगकी एक प्रभावशाली प्रक्रिया है कि मन (बाह्यमन) को एक कार्य दे देते हैं और अन्तर्मनको सचेष्ट कर देते हैं। अन्तर्मन इस समय समस्त भूत, भविष्य एवं वर्तमानकी सूचना देता है। बाह्यमनको रोक देनेकी अपेक्षा यह सरल क्रिया है। स्वप्नके निर्णयमें जो कठिनता रहती है, वह इसमें नहीं रहती।

रात्रिके अन्तिम प्रहरमें जो स्वप्न दिखायी पड़ते हैं वे सत्य होते हैं और शेष नहीं। कारण यह होता है कि रात्रिके प्रथम प्रहरमें तो कोई सोता नहीं, कोई असाधारण ढंगसे सोता हो तो वह अपवाद होगा। द्वितीय प्रहर दिन भरकी श्रान्ति मिटानेके लिये घोर सुषुप्तिका होता है। पहली निद्रा प्रगाढ़ होती है, यह बात सभी जानते हैं। तृतीय प्रहरमें निद्रासे उठा अन्तर्मन पूर्णतः सावधान नहीं होता। इसी प्रहरमें प्रायः स्वप्न दिखायी पड़ते हैं। पेटकी और स्नायुओंकी खराबीमें दूसरे प्रहरमें भी। अन्तर्मनमें हमारी वासनाओंके जो विषमजाल हैं, जिन्हें कि हमने दबा रखा है, वे सदा बाहर आनेकी चेष्टा करते

रहते हैं। बहिर्मन उन्हें प्रकट नहीं होने देता। स्वप्नमें जब बहिर्मन सोता रहता है तो उन्हें अवकाश मिलता है और पहले वे ही अन्तर्मनमें आते हैं।

विषमजाल प्रायः रजोगुण और तमोगुण प्रधान होते हैं, अतः जब शरीरमें इन गुणोंकी प्रधानता हो तो उन्हें प्रत्यक्ष होनेका अधिक सुअवसर मिल जाता है। रात्रिके चतुर्थ प्रहरमें समष्टिमें सत्त्वगुण प्रधान रहता है। शरीर पिछले दो प्रहरोंकी निद्रासे स्वस्थ हो चुका होता है। विषमजाल तृतीय प्रहरमें आ चुके होते हैं। अन्तर्मनमें नीदकी उन्मनी स्थिति नहीं होती, वह सावधान होता है। मनको तो काम चाहिये, जब विषमजाल नहीं आते तो अन्तर्मन अपनेपर पड़नेवाले समष्टि एवं संस्कारोंके प्रभावोंको प्रकट करने लगता है।

अन्तर्मन निद्रासे उठा होता है, अतः वह अपने अन्तरतम भागसे ही संस्कारोंको लेना आरम्भ करता है। फल यह होता है कि सूक्ष्म संस्कार पहले और भारी प्रभाववाले संस्कार वह बादको ग्रहण करता है। इस कारणसे प्रातःकालके जितने निकटका स्वप्न होगा उतना शीघ्र उसका फल होगा और उसके सत्य होनेकी उतनी अधिक सम्भावना रहेगी। जितनी अधिक रात्रिका स्वप्न होगा उतना अस्पष्ट और देरमें फल प्रकट करने वाला होगा। कितनी देरका स्वप्न होनेपर कितने दिनमें फल प्रकट होगा, यह विषय स्वप्न सम्बन्धी शास्त्रोंमें विवेचित हुआ है।

प्रातःकालके समय प्रकृति सत्त्व-प्रधान तो रहती ही है, रात्रिभरकी विश्रान्तिसे चित्तका क्षोभ दूर हो चुका होता है और वह भी शान्त तथा सत्त्वप्रधान रहता है। यही कारण है कि चतुर्थ-प्रहरमें साधन करनेके लिये शास्त्रोंमें इतना जोर दिया गया है। जब चित्त सात्त्विक स्थितिमें होता है तो वह भविष्यकी घटनाओंके प्रभावोंको स्पष्टतया ग्रहण कर लेता है। मान लीजिये कि आप चतुर्थ प्रहरमें गाढ़ सुषुप्तिमें मग्न हैं और अब जागृत होने ही वाले हैं, इसी समय किसी महत्त्वपूर्ण सूचनाका प्रभाव अन्तर्मनपर पड़ता है। वह तुरन्त उसे स्वप्नके रूपमें अत्यन्त स्पष्टतासे उपस्थित करता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इसी समय बहिर्मन भी जग पड़ता है अर्थात् आप पूर्णतः जग पड़ते हैं, पर अन्तर्मनने अपनी सूचना इतनी स्पष्ट प्रकट की थी कि बहिर्मन भी उसे ग्रहण कर लेता है और वह स्वप्नका दृश्य खुली आंखोंके सम्मुख भी कुछ मिनट बना रहता है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब सोतेसे उठते ही किसीने अपने सम्बन्धीको खड़ा देखा और पश्चात समाचार मिला कि उसका उसी समय (जब वह दिखायी पड़ा था) शरीरान्त हो गया।

इन सारे सिद्धान्तोंके मूलमें एक ही बात है—बहिर्मन-की क्रिया शान्त हो, वह अपनी बहिर्मुखतासे बाधा न देता हो और अन्तर्मन पवित्र तथा सात्त्विक स्थितिमें हो तो भूतकालके संस्कारों, अज्ञात वर्तमान और भविष्यकी घटनाओंको मनुष्य जान सकता है।

मनकी गतिका शृंखलित धर्म

: १२ :

मनोनियन्त्रण जिनका उद्देश है, जो परमार्थ-मार्गमें प्रवृत्त होनेके लिये इस चंचल देवताको एक ओर लगाना चाहते हैं; जो इस तरंगित मनःसिन्धुकी तलीके रत्नोंको पानेके लिये इसे शान्त करना चाहते हैं, उन्हें प्रथम इस मनोदेवके स्वभावका समझ लेना चाहिये। स्वभावानुकूल व्यवहार करके हम इसे वशमें ला सकते हैं। जैसे सरिताके प्रवाहकी ओर तैरकर पुरुष उसे पार कर लेता है; किन्तु यदि हम मनके स्वभावके विरुद्ध चेष्टा करेंगे तो नदीके प्रवाहके विपरीत तैरनेवालेके समान श्रम व्यर्थ जायगा और श्रान्त करके प्रवाह अन्तमें ले डूबेगा।

मनकी गति बड़ी तीव्र है। तीव्र गतिका उदाहरण देनेके लिये मनका लोग उद्धरण देते हैं। पृथ्वीके एक कोनेसे दूसरे कोने और दूसरे लोकमें पहुंचनेमें भी मनको एक पल नहीं लगता। कारण यह है कि मनको कहीं जाना तो पड़ता नहीं, सब संस्कार उसीके भीतर हैं, जब जिसे चाहा उठा लिया। समस्त देखे हुए कार्य एवं पदार्थों का उसमें प्रतिबिम्ब रहता है। इतना होनेपर भी मन अकस्मात् कहीं नहीं जाता। किसी संस्कारको वह अचानक नहीं छूता।

मनकी गतिका धर्म शृङ्खलापूर्ण है। मन एक वस्तुसे दूसरी वस्तुपर उनकी सम्बन्ध शृंखलाके द्वारा जाता है। सम्बन्ध न होनेपर कूद जानेका उसका स्वभाव नहीं। एक पदार्थका चिन्तन करते हुए वह दूसरे पदार्थपर तब जायगा जब उस दूसरे पदार्थका पहलेसे कुछ न कुछ सम्बन्ध हो।

मान लीजिये कि आप इस समय बम्बईकी एक दूकानका चिन्तन कर रहे हैं। मन सोचेगा—'दूकानमें यह लाल रंगकी पुस्तक रखी है। ठीक ऐसी ही लाल रंगकी पुस्तक कलकत्तामें देखी थी।' मन लाल रंगकी पुस्तकके सम्बन्धसे कलकत्ता पहुंच गया। अब वह सोच सकता है 'अमुक व्यक्तिके पास वह पुस्तक थी या अमुक घरमें थी। उस घरमें अमुक व्यक्ति था उसका स्वर अमुक चोरके समान था, उस चोरने अमुक चोरी बड़ी धूर्ततासे की थी आदि।' पुस्तकको लेकर मन पहुंच गया चोरी तक और रोका न जाय तो इसी प्रकार मनमानी शृंखला बनती रहेगी।

मनका पहला स्वभाव है खाली न रहना। उसे कुछ न कुछ काम चाहिये। जब आप उसे कुछ काम नहीं देंगे तो वह मनमाने संस्कारोंको उठाता और कल्पना करता रहेगा। मनमें सात्त्विककी अपेक्षा राजस और तामस संस्कारोंका अधिक रहना स्वाभाविक है। क्योंकि सात्त्विक संस्कारोंकी बहुलता होती तो हम मनुष्य न होकर देवयोनिमें होते। मनका प्रवाह स्वभावत: उन राजस और तामस संस्कारोंके साथ रहता है। जब

मनको अवसर मिलता है तो वह उन्हीं राजस और तामस विचारोंका उत्थान करता है। इसीसे कहा गया है कि 'खाली मन शैतानका घर।'

जिस किसीको भी मानसिक शक्तिका उपार्जन करना हैं या कोई आध्यात्मिक साधन करना है, उसे सर्वप्रथम यह स्मरण रखना चाहिए कि खाली न बैठे। बेकार बैठना सारी बुराइयोंकी जड़ है। आलस्यको पास नहीं आने देना चाहिये। शरीर चाहे निश्चेष्ट हो, किन्तु मनको सदव कार्यमें लगाये रखो। यदि मनको खाली छोड़ोगे तो वह तुम्हारे पतनके लिये खाईं खोदेगा।

मनको खाली न रखनेके साथ दूसरी बात यह स्मरण रखिये कि उसे स्वतन्त्र शृङ्खला मत बनाने दीजिये। मन जिस शृङ्खलाको लेकर चलता है, उसका निरीक्षण हो। उसका संचालन साधकको करना चाहिये। अच्छे विचार देकर भी मनको छोड़ दिया गया तो वह फिर उसकी शृङ्खला राजस संस्कारोंकी ओर दौड़ा लेगा। मन कितनी भी अग्राह्य वस्तुपर पहुँचा हो, उसके साथ बल-प्रयोग करना लाभप्रद नहीं होगा। बलपूर्वक वहाँसे हटानेकी चेष्टा करनेपर वह बार-बार और बड़े वेगसे उधर ही जायगा। उसे हटानेका सुगम उपाय यह है कि वहीं उसे एक सुन्दर शृङ्खला दे दी जाय और मनको उसपर चलानेका प्रयत्न किया जाय।

मान लीजिये कि आपने भगवान् रामका चिन्तन किया और मनको श्री राघवेन्द्रका संस्कार देनेके पश्चात्

छोड़ दिया। मनका स्वभाव है राजस या तामस वृत्तियोंकी ओर जानेका। मन वहींसे शृङ्खला आरम्भ करेगा 'रामचन्द्रजीने रावणको मारा था, रावणने उनकी स्त्रीको चुरा लिया था, आज-कल भी लोग स्त्रीको चुरा लेते हैं, अमुक स्त्री चुरायी गयी थी, वह ऐसी है ···' मनको छोड़ देनेका फल यह हुआ कि वह मर्यादा-पुरुषोत्तमका स्मरण करते-करते यहाँ आ पहुँचा।

अब दूसरे साधनको देखिये। मन उस चुरायी स्त्रीका चिन्तन करते हुये पहुँचा 'उस स्त्रीकी रूप-रेखा अमुक वेश्या-सी है' इतने घृणित स्थानसे घबड़ाइये नहीं। मनका संचालन कीजिये. उसे रोकनेके बदले उसी प्रवाहमें एक सुन्दर शृङ्खला जोड़ दीजिये। 'वह वेश्या रूपवती है, किन्तु उसका रूप श्री जीके रूपका शतांश भी नहीं। श्री जी श्यामसुन्दरको अत्यन्त प्रिय हैं, श्यामसुन्दरने कितना सुन्दर गीताका उपदेश दिया है।' इस प्रकार तुरन्त आप उस घृणित विचारसे उठकर यहाँ तक आ जाते हैं। किन्तु मनको कहीं मत छोड़िये। वह सदा निम्न विचारोंकी शृङ्खला चलाना चाहेगा। वह यहांसे भी सोच सकता है 'गीताका उपदेशक अमुक कितना पाखण्डी है, उसका नौकर शराबी है, उसका शराबी साथी कल जुआ खेलता था···' मन तो छूटते ही भागना चाहेगा। कर्तव्य यह है कि उसे स्वतः कोई शृखला मत पकड़ने दो। स्वयं उसे चलाओ 'गीताके उपदेशके पश्चात् अर्जुनने युद्धारम्भ किया, युद्ध पहले भीष्मजीसे हुआ, भीष्म-

जीकी प्रतिज्ञाके लिये श्यामसुन्दर चक्र लेकर दौड़े…’ इसी प्रकार भक्त एवं भगवच्चरित्रोंका निरन्तर चिन्तन किया जा सकता है।

‘तस्मिन्नेकतानता ध्यानम्’ लक्ष्यमें मनका एक रूपसे लगा रहना ध्यान है। यह ध्यान तो बहुत उच्च कक्षाकी बात है, किन्तु सात्त्विक विचारोंमें मनको लगाये रहनेसे मन सात्त्विक रहेगा और उसमें ध्यानकी योग्यता भी आयेगी। ध्यानका पूर्ण विषय तो अगले अध्यायोंमें स्पष्ट किया जायेगा। इसे ध्यानके लिए भूमि उपस्थित करनेका साधन समझिये।

इष्ट-मूर्तिका आप ध्यान करना चाहते हैं, पर मन वहां एकाग्र होता नहीं, ऐसी स्थितिमें मनको ऐसे विचारों-की शृङ्खला दीजिये; जिसमें इष्टमूर्तिके साथ दूसरे दृश्य भी बदलते रहें। नाना प्रकारके भगवच्चरित्रोंका चिन्तन कीजिये। ऐसा करनेमें यद्यपि विचार और दृश्य बदलते रहेंगे, पर इष्टमूर्ति सबमें उपस्थित रहेगी। एकांशमें मनको उस रूपमें एकाग्र रहना पड़ेगा। जब वह इस प्रकार एकाग्र होने लगेगा तो केवल मूर्तिका भी धीरे-धीरे चिन्तन कर सकेगा।

वासना-प्रतिरोधके विषमजाल

: १३ :

मनुष्य केवल मनुष्य ही नहीं है, वह एक ऐसा प्राणी है जो पशुत्व और देवत्वके मध्यमें स्थित है। जिन जीव योनियोमेसे होकर वह यहाँ तक पहुंचा है, उन सबके संस्कार उसे धरोहरकी भाँति मिले हैं। मनुष्यको पूर्णतः मनुष्य बननेके लिये उसे इन अपने प्राचीन पशुत्वके संस्कारोंपर विजय पाना पड़ता है। केवल मनुष्य शरीर-मे आ जाना मनुष्यता नहीं। राग-द्वेष, मोह-लोभ, काम-क्रोध और वैयक्तिक स्वार्थकी भावना तथा बदला लेनेकी इच्छा मनुष्यमें उसके पूर्ववर्ती पशुताके संस्कार हैं। प्रेम, सहानुभूति, सहायता, क्षमा, दया, कृपा और परोपकार प्रभृति संस्कार जिसमें नहीं, वह मनुष्य शरीरधारी होते हुये भी मनुष्य नहीं। उसमें अभी मानवताकी प्रतिष्ठा नहीं हुई है।

मानव-समाजका संघर्ष इसी पशुता और मानवताका संघर्ष है। प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें यह संघर्ष निरन्तर हो रहा है। और प्रत्येक समाजको इसमेंसे जाना पड़ रहा है। हर कोई चाहे वह कितना भी गिरा हुआ

क्यों न हो, पर श्रेष्ठ बनना चाहता है। वह मनुष्य है, अतः मानवताके प्रति उसमें आकर्षण होता है। अपने पशुत्वके व्यवहारपर उसका निर्णायक मन उसे कोसता है।

इतना सब होते हुये भी हमारे अन्तर्मनपर उन पशुत्वके संस्कारोंका इतना प्रभाव है कि इच्छा न होते हुये, निर्णायक मनकी उपेक्षा करके बहिर्मन बार-बार उधर ही जाता है। असंख्य जन्मोंकी पशुताका संस्कार दो-चार वर्षके प्रयत्नसे सर्वथा नष्ट हो जाय, यह किसी दशामें सम्भव नहीं। वह जागृत होता रहता है और उसे दबानेकी चेष्टा भी होती रहती है। यही मानव-हृदयकी अशान्तिका मल है।

जहाँ मनुष्यके अन्तर्मन और बहिर्मनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अपने चिर-संस्कारोंकी ओर है, वहीं उसका निर्णायक मन उन संस्कारोंसे घृणा करता है। वह बराबर उधर बढ़नेसे रोकता है। जब-तब निर्णायक मन (बुद्धि या विचार शक्ति) प्रबल रहता है, मनुष्य उन संस्कारोंके उठनेपर भी उन्हें दबा देता है। बाह्यमन निर्णायक मनकी जबतक बात मानता है, वासना क्रियाके रूपमें परिवर्तित नहीं होती। पर जहाँ बाह्यमन अन्तर्मनके नियन्त्रणसे बाहर हुआ, मनुष्य वासनाके प्रवाहसे प्रवाहित हो जाता है।

मनष्य ऐसी परिस्थितिमें रहता है कि वह अपनी मनमानी नहीं कर सकता। उसे समाज, शासन, शक्ति,

परिस्थिति आदिके अनुकूल चलना पड़ता है। यदि ये प्रतिबन्धक न हों तो बाह्यमन बहुत कम निर्णायक मनकी बात माने। किन्तु जब बाह्यमन देखता है कि निर्णायक मनकी सम्मति न माननेमें लज्जा, भय, अपमान तथा निष्फलता आदि हैं तो, वह उसके सम्मुख सिर झुका देता है।

हमारे मनमें जितने विचार और जितनी इच्छाएं उठती हैं, उनमेंसे प्राय: तीन चौथाईको हम प्रकट नहीं कर पाते। इसलिये नहीं कि हम उन्हें प्रकट करना नहीं चाहते, वे उठती ही हैं प्रकट होनेके लिये, किन्तु उनके प्रकट न करनेका कारण यह होता है कि सामाजिक नियमों, शासनके नियमों, विरोधियोंकी शक्ति, अपमान आदिका भय हमें ऐसा करने नहीं देता; या अपनेमें इतनी शक्ति नहीं होती की उन्हें प्रकट करके सफल कर सकें। अपने वंश एवं अध्ययनादिसे पड़े हृदयके संस्कार उसे प्रकट करनेमें लज्जाका अनुभव करते हैं। हृदयमें भय, ग्लानि या लज्जाके भाव आते हैं। फल यह होता कि हम उन वासना या विचारोंको मनमें ही दबा देते हैं।

हम जिन विचार या वासनाओंको दबा देते हैं वे नष्ट नहीं होते। वे हृदयके अन्तर-प्रदेशमें प्रविष्ट हो जाते हैं। मनमें और भीतर वे अपना स्थान बना लेते हैं। यद्यपि बहिर्मन उन्हें भूल जाता है और इसी कारण हम उन्हें नष्ट हुआ मान लेते हैं, किन्तु उनकी स्थिति मनमें

उलटे दृढ़ हो जाती है। ऐसे दबाये हुये विचार और वासनाएँ अन्तर्मनमें अपना एक विषमजाल बना लेती हैं। मानस-विज्ञानमें यह विषमजाल अपना बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रत्येक मानस-शास्त्रके अन्वेषक एवं मानसिक-शक्तिके साधकको इसका ध्यान रखना चाहिये। मानसिक-चिकित्साका मूलाधार यही है। जो चिकित्सक विषमजालके रहस्योंको जानता है, वह अपनी चिकित्सामें शीघ्र सफल होता है।

विषमजालमें स्थित संस्कार सदा प्रकट होनेका अवसर देखा करते हैं। वे निरन्तर अभिव्यक्त होनेके लिये सचेष्ट रहते हैं। बहिर्मन उन्हें इसका अवसर नहीं देता। पर उनकी सचेष्टताका बहिर्मनपर बराबर प्रभाव पड़ता रहता है। मन्त्रोंको इसीलिये गुप्त रखनेका आदेश है। गुप्त रखनेपर मन्त्र मनपर प्रभाव डालता रहता है। यद्यपि मन उन संस्कारोंको रोकता है, किन्तु उसके अस्वस्थ या प्रमत्त होते ही वह प्रकट हो जाते हैं। काम या क्रोधके आवेशमें, नशेकी झोंकमें, पागल होनेपर, स्वप्नमें, मूर्छित होनेपर और मेस्मरिक निद्रा लाकर आज्ञा देनेपर वे संस्कार प्रकट होते हैं। ऐसी अवस्थाओंमें मनुष्य उन बातोंका वर्णन करने लगता है, जिन्हें उसने बड़ी चेष्टासे छिपा रखा था।

विषमजालका प्रभाव बहुत घातक कभी-कभी पड़ता है। मानसिक रोगोंका प्रायः यही कारण होता है। चिड़चिड़ापन, अचानक भय, अकारण क्रोध या ऐसे

दूसरे स्वभाव उन दबे संस्कारोंके वे प्रभाव हैं जो वे मन-पर डालते है। मान लीजिये कि कभी रात्रिमें आप मित्रोंके साथ जा रहे हैं। रस्सी देखी और सांप समझकर डरे। तुरन्त भूल ज्ञात हुई और मित्रोंमें भयका संस्कार-उपहास न हो इसलिये दबा दिया गया। बात गयी बीती हो गयी। अब अचानक आप अंधेरेमें जाते डरते हैं और अकारण हृदय धड़कने लगता है, इसका कारण वही पुराना भयका संस्कार है।

योरोपियन मानसशास्त्र-वेत्ताओंने ऐसे कई तथ्योंका पता लगाया है। एक स्त्री बहुत स्वस्थ थी, साधारण स्थितिमें वह अच्छी प्रकार वर्ताव करती थी। किन्तु एक विशेष व्यक्तिको एक दिन देखते ही वह क्रोधसे पागल हो गयी। स्वस्थ होनेपर पूछा गया तो वह कोई भी उचित कारण न बता सकी। उस व्यक्तिको उसने पहले कभी नहीं देखा था। छानबीन करनेपर पता लगा कि वह बचपनमें ऐसी ही शकलके एक व्यक्तिके द्वारा ठगी गयी थी।

ये विषमजालके संस्कार प्रकट होनेका प्रबल प्रयत्न करते रहते हैं। उनका एक मात्र उद्देश होता है प्रकट हो जाना। बहिर्मन उन्हें प्रकट तो होने नहीं देता, फल-स्वरूप उनका मनपर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कभी-कभी भयंकर हो जाता है और बीमारीका रूप धारण कर लेता है। सामान्यतः मनको उस विकारके कारणका पता नहीं होता।

इस प्रकारके समस्त विकार उनके कारणभूत संस्कारको जान लेनेपर शान्त हो जाते हैं। जहाँ पता लगा कि यह विकार अमुक संस्कारका फल है, वहीं उस संस्कारका प्राकट्य हो जाता है और विकार नष्ट हो जाता है। उस संस्कारका पता कैसे लगे ? यह बात मानस-चिकित्साके प्रकरणमें वर्णित होगी।

मानसिक लिप्सा

: १४ :

मनोनिरोध या किसी भी मानसिक साधनामें लगनेके पूर्व साधकको इस मानसिक लिप्सासे पृथक् होना चाहिये। मानसिक लिप्साका अर्थ है कि जिसे हम पा नहीं सकते, जिसे पानेकी कोई आशा नहीं, जिसके उपयोगकी शरीरमें शक्ति नहीं या जो सामाजिक या धार्मिक नियमोंके कारण अपने लिये निरुपयोगी है, उसके लिये भी लालायित रहना। व्यर्थमें उसे पानेकी कल्पना करना। शेखचिल्लीकी कल्पना इसीको कहते हैं।

लिप्सा (राग या लोभ) प्रत्येक प्रकारका साधकके लिये त्याज्य है, किन्तु इस कोरी लिप्सासे केवल मानसिक-शक्तिके अपव्ययके दूसरा कुछ नहीं होता। जिस व्यक्तिमें इस प्रकारकी कल्पनाएँ प्रविष्ट हो जायेंगी वह कभी अपने किसी कार्यमें पूर्णतः सफल न होगा। ऐसा व्यक्ति कार्य तो एक स्थानपर करता है और उसके नेत्र तथा श्रवण कहीं औरको खबर लेते रहते हैं। उसका वर्तमान कार्य भी इस अव्यवस्थामें नष्ट हो जाता है।

बच्चों और वृद्धोंमें यह मानसिक लिप्सा बहुत होती है। युवकोंको दूसरी श्रेणीमें रखा जा सकता है। व्यवहार-

का भार आ जानेके पश्चात् प्रौढ़ व्यक्तिमें इस लिप्साका बहुत कुछ अभाव हो जाता है। बच्चेमें तो यह इसलिये रहती है कि वह समझ नहीं सकता कि मैं इसे पा सकूंगा या नहीं अथवा मेरे लिये इसका उपयोग है या नहीं। उसमें एक प्रकारकी अनुकरणवृत्ति होती है और वह जैसा देखता है वैसा ही करना चाहता है। वृद्धकी अतृप्त वासना और युवककी उद्दीप्त वासना उसकी विचार-शक्तिको शिथिल कर देती है। वे विना विचारे इस प्रवाहमें प्रवाहित होते रहते हैं।

जब मानसिक लिप्सा अत्यधिक बढ़ जाती है तो बुद्धिका एक प्रकारसे अभाव हो जाता है। वह व्यक्ति दूसरोंके व्यंग भी नहीं समझता और अपनेको लोगोंका उपहासपात्र बनाया करता है। आपने अवश्य ऐसे एकाध वृद्धोंको देखा होगा जो व्याहके लिये लालायित रहते हैं। लोग व्यंगसे उनका व्याह करानेकी बात करते हैं और वे उसमें अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। ऐसे ही लोभ, मोह सम्बन्धी लिप्साएँ भी वृद्धोंमें होती हैं।

युवक अपनी परिस्थिति और शक्तिपर विचार नहीं करना चाहता। उसका मन लम्बी स्कीमें बनाता है और कवियोंकी भाँति वह स्वप्न देखा करता है। वह उसे शक्य और आदर्श कह सकता है, पर है वह एक स्वप्न। यद्यपि उसकी विचार-शक्ति उसे इतना मूढ़ नहीं होने देती, जिससे वह दूसरोंके लिये उपहासास्पद बने, किन्तु उसका अपना उद्योग और श्रम उस आवेशमें व्यर्थ हो

जाता है। उसे अपनी विफलतापर खेद होता है और वह उसका दोष समाज, सहयोगी या ऐसे ही किसी औरके सिर मढ़ना चाहता है।

मानसिक लिप्सा जिसे गीतामें भगवानने कामजन्य मोह कहा है यह स्वभाव रखती है कि वह उदित होते ही स्मृति और विचार-शक्तिको दबा देती है। बहिर्मन निर्णायक मनसे स्वच्छन्द होकर अपनी योजना बनाने लगता है। श्रम, शक्ति और उद्योग तीनोंका इससे नाश होता है। पाप और अयश इसी लिप्साके परिणाम हैं। व्यक्तिका इस लिप्साके कारण भयंकर रीतिसे अधःपात होता है। जहाँ यह लिप्सा उच्च एवं श्रेष्ठ लक्ष्यके लिये भी होती है, वहाँ विफल होनेपर निराशाके साथ अविश्वास और अश्रद्धा होती हैं। लिप्साके अर्थमें यहाँ भूल नहीं करना चाहिये। लिप्सा हम उसीको कहते हैं; जिसमें व्यक्ति असाधारण रीतिसे अप्राप्य या दुष्प्राप्यको पाना चाहता हो।

'असम्भव कोई वस्तु नहीं' तुम सब कुछ करनेमें समर्थ हो। हतोत्साह होना निर्बलता है। पर अपनी शक्तिको देखो, सावधानीसे साधन करो। आतुर और उतावला बनना अपनेको लक्ष्यसे गिरा देना है। कहीं भी आसक्ति और राग नहीं होना चाहिये। जब भी तुम फलकी इच्छा करोगे, इस मानस-लिप्साके जालमें पड़नेसे बच नहीं सकते।

मानसिक-लिप्सा उत्पन्न क्यों होती है? इसका सबसे

प्रधान कारण है मनको बेकार रखना। शरीरको कार्यमें लगानेसे ही काम नहीं चलता। मनका स्वभाव है कि वह वर्तमानमें नहीं रहना चाहता। सामनेके कार्य और विचारका चिन्तन मन बहुत कम करता है। यदि मन वर्तमानमें लगा रहे तो साधनाको पूर्ण हुआ समझना चाहिये। मन या तो भविष्यकी सोचता है, शेखचिल्लीके महल बनाता और मानसिक-लिप्सा उत्पन्न करता है, या भूतकी (बीती) बातोंपर पश्चात्ताप करके 'यदि ऐसा होता तो यह हो गया होता' का चित्र खींचता है। यह भी लिप्सा ही है।

शरीरको कार्यमें लगाये रहना पर्याप्त नहीं। मनको कार्य देना होगा। मनको सोचनेके लिए कुछ निरन्तर देते रहो। बहुत कुछ ऐसा हो जो वर्तमानसे सम्बन्धित होते हुये भी मनको विचार-शक्तिकी ओर बढ़ाये। जैसे पूजा करते समय आराध्यकी लीलाओंका चिन्तन और मकान बनाते समय मिट्टी, पत्थर आदिके भेदोंका वैज्ञानिक विश्लेषण। मनमें बिचार-शक्तिकी जितनी प्रधानता होगी, मानसिक-लिप्साका उतना ही अभाव होगा। सदाचारी एवं संयमित जीवनमें इस लिप्साको स्थान ही नहीं। मनोनिरोधके पूर्व इन व्यर्थकी कल्पनाओंको दबाना होगा। जो कल्पनाओंसे छुटकारा नहीं पाता, वह वासनासे छूटनेकी आशा नहीं कर सकता।

मानसिक-लिप्सा प्रायः प्रत्येक व्यक्तिमें कुछ-न-कुछ होती है। कुतूहल वृत्ति इसका पूर्वरूप है। आप जा रहे

हैं, एक सुन्दर रूप, दृष्टि पड़ता है, दृष्टि जाती है। यहाँ तक तो ठीक। यह इन्द्रियोंका स्वाभाविक आकर्षण है। पर आप उधर ही घूरने लगते हैं, मनमें कल्पनामें उठने लगती हैं, यह क्या ? यही मानसिक-लिप्सा है। एक नयी मशीन आती है और आप काम-धन्धा छोड़कर देखने दौड़ते हैं, यह भी लिप्सा है। यही बढ़कर अन्धलिप्सा हो जाती है। किसी भी कारणसे विचार-शक्तिके शिथिल पड़ते ही यह प्रबल हो जाती है। वृद्धावस्थामें जब विचार-शक्ति शिथिल हो जाती है, प्रायः इसका प्राबल्य होता है।

जो साधक है उसे अपनी कुतूहल-वृत्तिका दमन करना होगा। उसमें कुतूहल नहीं होना चाहिये। हाँ ज्ञान-पिपासा तो परमावश्यक है। प्रत्येक भावको विचारसे संयोजित करो। यदि विचार उसमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दे तो ठीक। कोरी उत्सुकता अच्छी नहीं। व्यर्थकी कल्पनाके लिए मनको बेकार मत छोड़ो। रिक्त मन तुम्हें भी साधन शक्तिसे रिक्त कर देगा।

सबसे सुन्दर एक उपाय है मानसिक-लिप्साको दूर करने और मनकी चंचलताको नष्ट करनेका। थोड़े दिनके अभ्यासके पश्चात् कोई भी इसे स्वाभाविक बना सकता है। व्यवहारमें कोई बाधा नहीं होगी। दूसरा कोई साधन न भी किया जाय तो केवल यही अपरोक्ष साक्षात तक पहुँचा देगा। वह उपाय है, मनसे सदा अखण्ड नाम-जप। खाते-पीते जैसे आप काम करते हुए और

बातें सोचते रहते हैं, वैसे उनके स्थानपर भगवान्‌के किसी नामका जो आपको रुचिकर हो जप करते रहिये। मनको उसमें लगाये रहिये—इससे बड़ा कोई दूसरा साधन नहीं।

वासनाओंका नाश नहीं : परिवर्तन

: १५ :

सृष्टिमें किसी वस्तुका नाश नहीं होता। जो है, उसका अभाव संभव नहीं। नाश या मृत्युका अर्थ केवल रूप परिवर्तन होता है। मनोनिरोध या वासनानाशके लिये भी यही नियम है। वासनाका मनसे कभी अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता और न साधनका यह उद्देश्य है। ऐसा समझना कि वासनाका अभाव हो जायगा, एक भ्रान्ति है। साधनका उद्देश्य है वासनाके रूपको परिवर्तित कर देना।

मनुष्यको स्वाभाविकरूपसे ईश्वरकी ओरसे जो कुछ भी मिला है, वह उसके कल्याणके लिये है। उसमेंसे ऐसा कुछ भी नहीं; जो व्यर्थ या हानिकारक हो। आत्म-कल्याणके पथमें उन सबका उपयोग है। वासनाएँ ईश्वरीय देन हैं। वे ऐसी देन हैं जिनके बिना न तो संसार चल सकता और और न परमार्थ। व्यवहारका मूलाधार और साधनकी भित्ति उन्हींपर स्थिर है। मनुष्य जब उनका दुरुपयोग करता है तो उनका रूप विकृत हो जाता है और वे पतनका कारण होती हैं। जब उनका सदुपयोग होता है तो वे आत्म-कल्याण करती हैं।

हम मनका स्वरूप समझाते हुये पहले अध्यायमें बता आये हैं कि मनका मूलरूप सात्त्विक है। वह हमारे विकारोंसे विकृत होकर हमारे पतनका कारण हो गया है। मनको छोड़ देनेसे साधन नहीं होगा, साधन तो मनके द्वारा ही होगा। आत्म-कल्याण मन ही करेगा। पर मनके विकारोंको दूर करना होगा। वासनाएँ भी अपने मूलरूपमें विशुद्ध हैं। वे आत्मदर्शनके लिये ही हमें प्राप्त हुई हैं। पर हमारे दुरुपयोगके कारण वे विकृत हो गयीं और पतनका कारण हो रही हैं।

अनादि-कालसे मानव इन वासनाओंका दुरुपयोग करता आ रहा है। वह अपनी भूल तो समझता नहीं, दोष वासनाओंको देता है। अब उसके भीतर यह विश्वास घर कर गया है कि आत्मपतनका कारण वासनाएँ ही हैं। यह निश्चय हो गया है कि विना वासनानाशके आत्मोद्धार हो नहीं सकता। वह यह नहीं देखता कि वासनाओंका सदुपयोग भी हो सकता है।

वासनाएँ असंख्य नहीं। इनके जो ये असंख्य भेद दिखलायी देते हैं, वे केवल उनके रूपान्तर हैं। मूलमें वासनाएँ त्रिविध हैं। प्रेम, विरक्ति और संचय। आकर्षण, विकर्षण और स्थिति, प्रकृतिकी ये तीन शक्तियाँ मनमें इन तीनरूपोंमें प्रकट होती हैं। व्यक्ति जब इनमें अपने क्षुद्र स्वार्थ एवं इन्द्रिय-लालसाको मिला देता है तो इनका रूप हो जाता है काम, क्रोध और लोभ।

इन्हींकी शाखाओं या रूपान्तरोंसे सात्त्विक और

राजस, तामस वृत्तियाँ बनती हैं। प्रेम जब स्वार्थसे दूषित नहीं होता तो वह स्नेह, मैत्री, प्रतिभा, दया, क्षमा, प्रभृतिमें समयानुसार परिवर्तित होता रहता है। विरक्तिके रूप वैराग्य, पापसे घृणा, अन्यायका दमन, शौर्य, तेज, दक्षता, उत्साह, वीरता आदि होते हैं। संचय-वृत्ति साधन-निष्ठा, दीन-रक्षण, स्वास्थ्य, व्यायाम, स्मृति, मेधा, धैर्य, प्रभृतिका कारण होती है।

जब मनुष्यमें वैयक्तिक-स्वार्थ प्रधान होता है तो ये शुद्ध भावनाएँ विकृत हो जाती हैं। इनका रूप काम, क्रोध और लोभ होता है। कामसे राग, व्यभिचार, मोह आदि, क्रोधसे ईर्षा, द्वेष, अमर्ष, घृणा, पीड़ा प्रभृति तथा लोभसे कृपणता, शोषण, संग्रह आदि पतनकारी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मूल भावनाएँ परिस्थिति एवं बहिर्मन तथा निर्णायक मनकी प्रेरणाके अनुसार पलट जाती हैं।

एक शिशु है, वह अपनी मातासे प्रेम करता है। उसकी स्वभावतः प्रवृत्ति चिड़ियोंके प्रति होती है। यह उसकी प्रेमवृत्ति है। इन्द्रिय लालसा जागृत होते ही वहीं काम हो जाती हैं और निर्णायक मनकी प्रेरणासे प्रतिभा भी। यदि वह बड़ा होकर साधन करे तो वही वृत्ति शुद्ध होकर उसे ज्ञान या भक्तिके रूपमें मिलेगी तथा उसका आत्मकल्याण कर देगी। बच्चेको किसीने अन्न खिलाना चाहा तो वह प्रतिकार करता है। यह स्वाभाविक विरक्ति है। बड़े होनेपर वैयक्तिक स्वार्थकी प्रेरणासे वह क्रोध,

अमर्ष, रोष, ईर्षा, द्वेषमें परिणित होगी। सदुपयोग करने पर शौर्य, दक्षता आदिका रूप लेगी। विशुद्धरूपमें वह वैराग्य है। बच्चा कुछ लोगोंसे डरता है, क्यों ? यह उसकी संचयवृत्ति है। बड़े होनेपर यह भय और लोभ हो जायेगी। वस्तुतः यह साधन-निष्ठा है।

हममें उठनेवाली प्रत्येक वृत्ति आकर्षण, विकर्षण और स्थिति, प्रकृतिकी इन्हीं तीन अवस्थाओंका रूप है। इनमेंसे भी स्थिति केवल भ्रान्ति है। वह आकर्षण गति-की एक अवस्था-विशेष है। प्रकृतिमें केवल द्वन्द है। इस विश्लेषणके आधारपर हमें कहना पड़ेगा कि संचय प्रेमका ही रूप है। कामकी सीमामें ही लोभ भी आ जाता है। पवित्ररूपमें दो क्रियाएँ हैं प्रेम और विरक्ति। वैयक्तिक स्वार्थ प्रधान होनेपर दो ही रूप प्रधान होते हैं काम और क्रोध।

जितना-जितना मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थसे रहित होता है, उसमें सात्त्विक वासनाओंका उदय होता है। काम प्रेमकी ओर और क्रोध विरक्तिकी ओर बदलता जाता है। दया, क्षमा, रक्षण, उपकार तथा पापसे घृणा, विरक्ति प्रभृति शुभेच्छाओंका उदय होता है। दुष्कर्मोंसे निवृत्ति होती जाती है।

वासनाओंके परिवर्तनको समझ लेनेके पश्चात् उनका क्रियात्मक परिवर्तन साधकके लिये कठिन नहीं रह जाता। कठिनता तो तब रहती है जब साधक एक वासनाको रोकने या मिटानेके लिये उससे युद्ध करता है।

ऐसी अवस्थामें वह वासना चाहे थोड़ी देरको दब जाये, पर पुनः वह बड़े भयंकर रूपसे उठती है। उस समय उसे रोकना कठिन हो जाता है। व्यर्थका श्रम हाथ रहता है।

एक ही वासना एक साथ दो रूपोंमें नहीं रह सकती; या तो काम-रूपमें रहेगी या प्रेमरूपमें। क्रोध या तो क्रोध रहेगा या वैराग्य। साधकको चाहिये कि उसे जिस वासनाको दबाना अभीष्ट हो, उस वासनाके दूसरे रूपको अपनेमें स्थान दे। प्रतिकारी वासना जितनी दृढ़ होगी; पहली उतनी कम होती जायगी। जिसे बहुत ईर्षा होती है उसे ईर्षाके दूसरे रूप स्वदोष-दर्शनका अभ्यास करना चाहिये।

प्रकरणका अन्त करते हुये एक बात बता देना है। जिसके हृदयपर तमोगुणका जितना गहरा आवरण होगा, उसमें उतनी अल्पवेग वासनाएँ होंगी। वासनाएँ तो उसमें बहुत होंगी, पर उनका वेग शिथिल होगा। जिसमें दूषित वासनाओंका वेग शिथिल है, वह यदि साधन-में लगेगा तो साधनका वेग भी शिथिल होगा। देखा गया है कि जिनमें दूषित वासनाएँ प्रबल होती हैं, वे साधनमें लगकर बड़े उच्च कोटितक शीघ्र पहुंचते हैं। उनके साधनका वेग भी तीव्र होता है।

जो बड़ा कामी है, वह सुधरनेपर बड़ा व्यक्ति होगा। सूर, तुलसी और विल्वमंगल इसके उदाहरण हैं। जो बहुत क्रोधी है वे बड़े विरक्त हो सकते हैं। भक्तमालमें ऐसे

कुछ डाकुओंका चरित्र है। महर्षि दुर्वासा पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। बात यह है कि मूल भावना जितनी प्रबल होगी, विकार भी उतना ही प्रबल होगा और सुधारकी गति भी वैसी ही। जिसमें कोई वासना या भावना प्रबल नहीं, उसका सुधार बहुत कठिन है।

अभ्यास और दबाव

: १६ :

मनोविरोध या मानसिक साधन आरम्भ करनेसे पूर्व साधकको सबसे पहले विघ्नोंको जान लेना चाहिये। विघ्नोंको जाने बिना उनसे बचा नहीं जा सकता। यों तो साधनमें बहुतसे बिघ्न आते हैं, उन्हें विस्तारसे समझनेके लिये पुस्तकोंसे काम नहीं चल सकता। साधककी परिस्थितिके अनुसार विघ्नोंका उत्थान होता है और तदनुसार प्रतिकार भी। यह बात तो किसी जानकारसे जानना चाहिये।

हमें यहां एक मूल विघ्न बताना है। यह है उतावलापन। प्रायः बड़े-बड़े साधक भी इस उतावले-पनमें पड़ जाते हैं। प्रकृतिका स्वभाव है कि जहाँ आघात होगा, वहाँ प्रतिघात भी। मनपर जितना अधिक दबाव डाला जायगा, वहांसे उतना ही बल प्रतिघात होगा। बल प्रयोग किसी भी साधनमें कभी भी लाभदायक नहीं, यह सदा स्मरण रखना चाहिये।

साधक जब साधनका आरम्भ करते हैं तो उनमें उत्साह होता है। वे उस उत्साहको नियन्त्रित नहीं कर पाते। आरम्भमें अधिकसे अधिक साधन बढ़ा लेनेकी धुन

होती है और इस धुनमें मनपर अधिकसे अधिक दबाव डाला जाता है। फल यह होता है कि थोड़े दिन बाद मन साधनमें नहीं लगता। वासनाएँ और प्रबलतासे उठने लगती हैं। साधक ऐसा अनुभव करता है कि वह उससे भी नीचे पहुंच गया; जहाँ साधन आरम्भ करनेसे पूर्व था। कारण क्या है ? मान लीजिये कि आप पहले दिन अखाड़े में गये और बैठकें लगा लीं। परिणाम यह होगा कि दूसरे दिन दस भी कठिन हो जायेंगी और शरीर भी निर्बल ज्ञात होगा। साधन मानसिक व्यायाम है और उसे व्यायामकी भाँति बढ़ाना चाहिये।

लोग ध्रुव, प्रहलाद, एकनाथ, ज्ञानेश्वर या वर्तमान समयके किसी महापुरुषके उग्र साधनकी बात पढ़ते या सुनते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि वे महापुरुष कितना सक्षम हृदय रखते हैं और कितनी जन्मान्तरकी साधनाओंके पश्चात् यहाँ पहुँचे हैं। 'मैं भी ऐसा करूँगा और वह फल प्राप्त कर लूंगा' यह दृढ़ विचार होता है। प्रायः प्रथम सभी साधक ऐसी भूमिकासे आते हैं। बड़े वेगसे त्याग, तपस्या और मनपर दबाव डालना आरम्भ होता है। किन्तु थोड़े समय पश्चात् उत्साह शान्त हो जाता है, निराशा हो जाती है, श्रम उलटे फल लाता है। इस प्रकार बार-बार भ्रान्त होनेपर तो कहीं ठीक समझ आ पाती है।

बड़े वेगसे साधन आरम्भ करनेके पश्चात् जब मन प्रतिकार करता है तो साधक उस प्रतिघातके वेगसे

पहली स्थितिसे भी च्युत हो जाता है। कभी-कभी तो वह अश्रद्धालु और नास्तिक हो जाता है। यदि ऐसा न भी हुआ तो प्रतिघातका वेग कुछ समय लेता है। निराशा धीरे-धीरे मिटती है, तब कहीं पुनः साधनमें रुचि होती है। यदि पहले वह बल प्रयोग न करता तो इतने समयमें अभ्यासके द्वारा बहुत तरक्की कर लेता।

ऐसे महात्माओंकी सन्निधिमें पहुँचा हूँ जिन्होंने वरसों नंगे खुले आकाशमें बिताये हैं, जो अहर्निशि बरसों रोते रहे हैं, जो मनुष्योंके पास कई वर्ष नहीं आये। कठोर तितिक्षाकी उन्होंने सीमा कर दी। किन्तु जब वे उन साधनोंसे निवृत्त हुये, अब साधन काटने दौड़ता है। दो माला जप भी कठिन है। सम्मान और शासन तथा शरीरको सुख देनेकी इच्छा बड़ो प्रबल हो गयी है। वे इसे जानते हैं, पर विवश हैं। मनसे उस आघातका प्रतिघात हो रहा है। उसे रोकना अब शक्य नहीं, क्योंकि वह आघातके समान ही बलवान है।

आपने कभी सर्कसमें देखा होगा कि पात्र कितने अद्भुत दृश्य दिखलाते हैं। पानीसे भरा तांबेका बड़ा घड़ा दाँतोंसे उठाकर उसका जल गिरा देना उनके लिये एक सामान्य बात है। सीनेपर बड़ा-सा गजराज चढ़ा लेते हैं। पर यह एक दिनमें नहीं होता। जो उनकी नकल करना चाहेगा वह अपने दाँत तोड़ लेगा या हाथीके पैरोंके नीचे पिस जायगा। किन्तु उनकी भाँति धैर्यपूर्वक अभ्यास करनेसे वह सब कर सकता है। लोटा उठाते

उठाते घड़ा उठाया जा सकेगा। गज-शिशुको धारण करते-करते गज भी बक्षपर आ सकता है। इसी प्रकार महापुरुषोंकी महान् साधना क्रमिक अभ्यासमें अपनायी जा सकती है, किन्तु सहसा साहस वहाँ विपरीत फल प्रकट करेगा।

साधकमें धैर्य होना चाहिये। मनुष्य जीवन अनन्त है। मृत्यु जीवनका अन्त नहीं करती। वह तो एक बड़े नाटकका पट-परिवर्तनमात्र है। भगवान्ने गीतामें घोषणा कर रखा है कि साधकका नाश नहीं होता। यदि वर्तमान जीवनमें साधना पूर्ण न हुई तो वह दूसरे जन्ममें उसे पूर्ण करनेको प्रवृत्त होगा। उतावलापन साधन-मार्गके लिये अत्यन्त घातक है।

प्रत्येक कार्य अभ्याससे हो जाता है। जितना विष खाकर साधारण लोग मृत्युकी भेंट हो जाते हैं, उसकी कई गुनी बड़ी मात्रा एक दीर्घ अभ्यासी पचा लेता है। क्यों? इसलिये कि धीरे-धीरे उसने विष पचानेका अभ्यास किया है। आज साधन असम्भव प्रतीत होता है, वह धीरे-धीरे अभ्यास करनेपर अत्यन्त सुगम और स्वाभाविक हो जायेगा। उसके लिये फिर कोई विशेष प्रयास या श्रम नहीं करना पड़ेगा। अतः जो सफलता चाहता है, उसे धीरतापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। त्याग, तपस्या, तितिक्षा सब अभ्याससे संभव हैं।

एक अच्छा बलवान और स्वस्थ युवक अखाड़ेमें प्रथम दिन जाता है। शिक्षक उसे पाँच बैठकसे अधिक नहीं

करने देता। यद्यपि वह करना चाहे तो बिना श्रम पचास कर सकता है। किन्तु यदि आज पचास कर लेगा तो कल शरीरमें दर्द होगा और पचासके बदले बीस ही कर सकेगा। आज पांच करके कल वह सात सरलतासे कर सकता है। पाँचसे दस बढ़ना भी अनुकूल नहीं और बढ़ेगा भी उसकी शक्तिकी सीमा तक। फिर वह संख्या स्थिर हो जायेगी।

यही साधनका क्रम है। आरम्भमें अधिककी क्षमता रखते हुये भी एक मिनटसे प्रारम्भ करो। बढ़ानेका क्रम बहुत कम रखो। कई दिन तक बढ़ाओ मत। जब मन उतना प्रसन्नतासे सहन करले तब बढ़ाओ। बढ़ाते मत चले जाओ। प्रत्येक मात्रा बढ़ानेके पश्चात् कमसे कम एक सप्ताहका अवकाश दो, जिससे मन उसे पचा ले। उतना करनेका अभ्यासी हो जाये। जब मात्रा दस या पन्द्रह मिनटपर पहुँच जाये तो भी नाममात्रको एक या आधा मिनट बढ़ानेका क्रम रखो। समय अवश्य लगेगा, पर विघ्नोंसे सुरक्षित रहोगे। पतनका भय दूर रहेगा। इतना बढ़ाओ जिसे फिर घटानेकी आवश्यकता कभी न पड़े।

जिस दिन साधनके समय मन न लगे बल प्रयोग मत करो। मनको अवान्तर साधन दो। जैसे ध्यानके बदले लीला-ध्यान, जप या पाठ। उसमें भी न लगे तो उसका निरीक्षण करो। उसे विचार शृंखला देकर लक्ष्य तक लाओ। इतनेसे भी काम न चले तो उसे थोड़ी देर छोड़

दो। जो वह सोचना चाहता है, सोच लेने दो। यदि मन बहुत उद्विग्न हो और सर्वथा न लगे तो दो चार घण्टेको साधन रोककर उसे किसी प्रिय कार्यमें लगाओ। कोई दूसरा काम करो। कभी साधनमें उतावली और बल-प्रयोग करनेकी भूल नहीं होनी चाहिये।

वैराग्य

: १७ :

मनपर दबाव न डाला जाय, इसका अर्थ यह नहीं होता कि मन जो कुछ भी मांगे, वह उसे दे दिया जाया करे। मानसिक विलासिताको तो दूर करना ही होगा। मनपर दबाव डालना साधकके लिये जितना हानिकारक है, उसे विलासी बनाना उससे भी अधिक। दबाव डालकर तो साधन चलता भी है, प्रतिघातके पश्चात् पुनः प्रगतिकी आशा रहती है, पर विलासी कुछ भी नहीं कर सकता। दबाव डालना रजोगुणका धर्म है और विलास और प्रमाद तमोगुणका। साधकको सदा तमोगुणसे दूर रहना चाहिये।

प्रकृतिका नियम है कि बिना कुछ त्याग किये कुछ मिलता नहीं। कुछ भी पाना हो तो त्याग करना पड़ेगा। जितनी महान् वस्तुको पाना होगा उतना महान् त्याग भी करना पड़ेगा। जब आप बड़ी नौकरी चाहते हैं तो छोटीको छोड़ना पड़ता है। अतः यदि आप परमात्माको पाना चाहते हैं तो संसारको छोड़ना होगा। संसारको छोड़ना चाहे शक्य न हो पर मनसे तो संसारको निकालना ही पड़ेगा। भव और भौतिक वस्तुओंमें आसक्ति रखते हुये परमार्थमें प्रगति सम्भव नहीं।

यदि साधककी किसी वस्तुमें आसक्ति रहेगी तो मन बार-बार उधर ही जायेगा। साधनके समय भी चित्त उसी-का चिन्तन करेगा। आवश्यक यह है कि लक्ष्यके अतिरिक्त मनमें और किसीको भी स्थान न हो। कोई भी बाह्य वस्तु या व्यक्ति इतना प्रिय न हो जिसके हानि-लाभका समाचार साधनसे मनको विचलित कर सके। शरीरमें भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये, अन्यथा शारीरिक असुविधाएँ ही साधन न करने देंगी।

दबाव न डालनेका इतना ही अर्थ है कि शरीर या मनपर ऐसा अस्वाभाविक बल नहीं पड़ना चाहिये कि मन बल-प्रयोगमें लगा रहे। भूखे रहनेपर पेटकी चिन्ता होना स्वाभाविक है, नंगे रहनेपर शीत मनको विक्षिप्त करेगा। वर्षामें भीगते हुये मनको साधनमें लगाये रहना सरल नहीं। इन अनिवार्य आवश्यकताओंकी निवृत्ति होनी चाहिये। इसी प्रकार कृमिपूर्ण स्थानमें आसन या आवरण आवश्यक है।

व्यक्तिके परंपरागत स्वभावके अनुसार उसकी आवश्यकताएँ होती हैं। जो एकके लिये विलासकी सामग्री है, वही दूसरेके लिये स्वाभाविक। जो कल राजा था, वह आज चनेकी रोटी नहीं पचा सकेगा। उसके लिये सामान्यतः अच्छा भोजन आवश्यक है, जब कि वही एक मजदूरके लिये विलास हो जायेगा। रोगी और स्वस्थकी आवश्यकताएँ भी पृथक्-पृथक् होंगी। बात यह है कि चिर-अभ्यासके द्वारा शरीर और मनको

हमने जैसा बना दिया है, उसके अनुसार चलना स्वाभाविक है और उसे उससे अधिक सुविधा देना विलास। अभ्यासके द्वारा आवश्यकता घटायी जा सकती है, पर सहसा उसका त्याग लाभदायक नहीं हो सकता।

यहां यह बता देना आवश्यक है कि वैराग्य और दबाव दोनों कर्म हैं। जबतक साधकको शरीरका ज्ञान है 'मैं क्या कर रहा हूं'— यह बोध है, तभी तक नियम भी हैं। जब लक्ष्यमें मन इतना तल्लीन हो जाय कि शरीरका मान न रहे तो कोई नियम नहीं हो सकता। नियम हो भी तो पालन कौन करेगा। प्रेमकी तीव्र अवस्थामें प्रेमी न खाता है, न पीता है, न सोता है। वह वर्षा और सर्दीमें नंगा पड़ा रहता और रोया करता है। पर यह दबाव नहीं। उसे शरीरकी सुधि नहीं रहती। मन जब शरीरसे सम्बन्ध नहीं रखता तो उसकी अवस्था-का उसपर प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा त्याग किया नहीं जाता, वह स्वतः हो जाता है। वह त्याग साधकको अभिप्रेत भी नहीं होता। वह स्वाभाविक हो जाता है।

मनुष्यके लिए आवश्यक है केवल साधारणतया आव-श्यकताकी पूर्ति, पर मानसिक-लिप्सा उसे विलासी बना देती है। वह भोगोमें व्यर्थमें आसक्ति कर लेता है। इसी आसक्तिका त्याग वैराग्य है। 'यह मेरा है' और 'मैं' 'इसके द्वारा सुखी हो रहा हूं' यही दो मिथ्या भावनाएं उसके अन्तरमें स्थान बनाये हैं ?

एक मकान है, बनवानेके पश्चात् आप उसमें कभी

रहे नहीं। उसमें रहनेवाला भी कोई ऐसा व्यक्ति है जो किराया नहीं देता, पर यदि मकानका कोई हिस्सा गिर जाय तो कष्ट किसे होगा ? आपको। क्यों ? इसलिये कि आप उसे अपना समझते हैं। एक मैनेजर करोड़का व्यापार करता है। वह कितना खरीदता और बेचता है, इसे मालिक नित्य देखता भी नहीं। पर यदि सहसा घाटा हो जाये या दिवाला निकल जाये तो मैनजरको तनिक भी नहीं या नाममात्रका कष्ट होगा। क्यों ? इसीलिये कि व्यापारको वह अपना नहीं समझता।

एक वस्त्र है, आप उसे फटा और गन्दा समझ फेंक देते हैं। आपका नौकर उसे पहनकर प्रसन्न होता है। क्यों ? इसलिये कि वह मान लेता है 'मैं सुखी हूं।' जिस वस्त्रको पानेके लिये आप लालायित हैं और जिसे पाकर सुखी होंगे, उसे एक राजाको पहना दिया जाये तो उसे बड़ा क्लेश होगा। क्यों ? इसलिये कि वह अपनेको दुःखी मान लेगा। सुख और दुःख वस्तुओंमें नहीं, वह भावनामें है। 'मेरे पास इतना बड़ा भवन या इतना धन है, मैं इतनी अच्छी वस्तु पा गया, मैं सुखद स्थितिमें हूं' यह भावना सुखका और मेरे पास थोड़ा धन या रद्दी भवन है. मेरा घर टूट गया, मेरे पास अच्छी वस्तु नहीं, मैं दुःखद स्थितिमें हूं, यह भावनाएँ दुःखका कारण हैं।

भोजन चाहे लड्डू हो या सूखी रोटी, गलेके नीचे दोनोंका स्वाद समान है। पेट दोनोंसे भर जाता है और शरीर-निर्वाह दोनोंसे हो जाता है। स्वाद भी कोई स्थिर

वस्तु नहीं, एकको लड्डूमें भी स्वाद नहीं आता। और भूखा रोटीमें भी स्वादका अनुभव करता है। शीत-निवारण और शरीरका आच्छादन कम्बल और रेशम दोनोंसे हो जाता है। चमक भी अच्छाईका कारण नहीं। कल-तक रेशम अच्छा था और आज खद्दर अच्छा हो गया। वर्षासे रक्षा झोपड़ीमें भी होती है और महलमें भी। सोते समय चारपाईसे अधिक स्थान कहीं नहीं घिरता और न निद्रामें स्थानका पता रहता। न तो रात-दिन झोपड़ीमें कोई रहता और न राजभवनमें। यह 'अच्छा एवं सुखद है और यह बुरा तथा दुखद' यह केवल मनुष्यकी मानी हुई भावनाएँ हैं। ये भावनाएँ भी परिस्थिति एवं देश, कालादिके अनुसार बदलती हैं। जो भारतमें अच्छा है, वह योरोपमें बुरा, जो किसानको स्वच्छ वस्त्र है, वह डाक्टरको मैला।

वैराग्यका अर्थ है विचारके द्वारा इन मिथ्या भावनाओंपर विजय पाना। इस 'अच्छा और बुरा' 'मेरा और दूसरेका' की कल्पनाको हृदयसे निकाल देना। इसी मिथ्या कल्पनाके कारण मनुष्य इनमें आसक्त है। जब माननेमें ही सुख-दुःख है तो सदा और सब स्थितिमें अपनेसुखी अनुभव करना और सन्तुष्ट रहना किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न रखना।

सुख वस्तुओंमें नहीं है। सुखका सत्यन्त भण्डार अपने भीतर है। प्रत्येक व्यक्ति भीतरसे ही उसकी उपलब्धि करता है। किन्तु भ्रमके कारण वह उसे

वस्तुओंमें मान लेता है। मनकी चंचलता उस अन्तरके आनन्दकी अवरोधक है। जब मन किसी अनिष्ट वस्तुको पाता है तो एक क्षणको शान्त हो जाता है। उस स्थिरतामें भीतरका आनन्द प्रकट होता है। यदि वस्तुमें आनन्द हो तो वह सबको और सदा आनन्द दे। पर एक वस्तु एकको सुख देती है तो वही दूसरेको दुःख भी दे सकती है। एक अवस्थामें वह सुखद है तो दूसरीमें दुःखद भी। फिर किसी वस्तुके मिलनेसे आनन्द स्थायी नहीं होता। मन कुछ काल पश्चात् चंचल हो जाता है और वह सुख नष्ट हो जाता है। यद्यपि वह वस्तु पास ही रहती है। अतः विचारके द्वारा वस्तुओंमें सुखकी मिथ्या भावनापर विजय पाना चाहिये। साधकको सदा विचार करते हुये इस कल्पित भावनाको सर्वथा हृदयसे दूर कर देना चाहिये।

मनोयोग

: १८ :

किसी कार्य-विशेषमें मनका पूर्णतः लग जाना मनोयोग है। कहते हैं कि कोई भील अपने बाणोंकी नोकपर विष चढ़ानेमें लगा था, एक पूरी बारात उधर होकर बाजा बजाते हुये निकल गयी, थोड़ी देरमें एक आदमी आया और उसने भीलसे पूछा—'बारात कितनी दूर गयी होगी?' भीलने आश्चर्यसे उत्तर दिया—'इधरसे कोई बारात गयी यह मुझे पता नहीं।' इसका अर्थ है कि वह अपने कार्यमें मनोयोग-पूर्वक लगा था।

पाठकोंको अनुभव होगा कि वे जब किसी कार्यमें भली प्रकार दत्तचित्त होते हैं तो किसीकी बातचीत या पुकारना नहीं सुन पाते। यह मनोयोगकी सामान्य अवस्था है। मनोयोगकी उच्चावस्थामें मनुष्यको अपने शरीर और शारीरिक क्रियाओंका भी ध्यान नहीं रहता। एक बार न्यूटन अपनी प्रयोगशालामें प्रयोग कर रहा था। भोजनका समय होनेपर नौकरने मेजपर भोजन लाकर रख दिया और उसे तौलियेसे ढक दिया। बीचमें एक मित्र आया और उसने भोजन कर लिया। रिक्त पात्रको वह पुनः ढककर चला गया। न्यूटनको कुछ पता न था, यद्यपि वह बगलकी मेजपर प्रयोग कर रहा था।

प्रयोग समाप्त करके उसने भोजनके लिये पात्रपरसे तौलिया उठाया और पात्रको रिक्त देखकर बोल उठा—'ओह ! मैंने भोजन तो कर लिया है।' यह उच्चकोटिके मनोयोगकी स्थिति है।

कार्यकी सफलताका रहस्य है मनोयोग। महान् पुरुषोंकी सफलता और महत्ता इसीमें है कि वे अपने कार्यमें पूर्ण मनोयोग कर लेते हैं। जो मनोयोग नहीं कर पाता वह पूर्णतः सफलतासे कार्य नहीं कर सकता। उसका कार्य एक प्रकारका भार टालना होता है। फल यह होता है कि वह अपनी वर्तमान स्थितिसे ऊपर नहीं उठ पाता।

कार्य तीन प्रकारसे होते हैं, साधारण रीतिसे, बेमनसे और मनोयोग-पूर्वक। आपने कार्य आरम्भ किया। शरीर कार्य कर रहा है और मन अपनी उधेड़-बुनमें लगा है। यह साधारण रीति है। बहिर्मन संचालक मनको कार्य करनेकी आज्ञा देकर अपनी उधेड़-बुनमें लग जाता है। संचालक मन यन्त्रकी भांति शरीरको उस कार्यमें लगाये रहता है। बहिर्मन जहां कार्यमें परिवर्तन या रुकावट करनेकी आवश्यकता होती है, वहां उस समय पहुच जाता है। बहिर्मन पहले सोच लेता है कि इतने समय या इस अवसरपर दूसरी आज्ञा देनी होगी, ठीक उसी समय वह वहां पहुंच जायेगा। इस प्रकारके निश्चयपर पहुंचनेकी बहिर्मनकी रीति इतनी स्वाभाविक है कि वह प्रायः कम भूलता है। आप

सोते समय मनको आज्ञा दें कि इतने बजकर इतने मिनटपर जागना है तो ठीक उसी समय नींद टूट जायेगी। कभी-कभी मन अपनी उधेड़-बुनमें इतना व्यस्त हो जाता है कि उसे अपने पूर्व-निश्चयका स्मरण नहीं रहता। ऐसे समय संचालक मन बिना रुके शरीरसे वही कार्य कराता रहता है; जैसे आप एक रास्तेपर कुछ सोचते जा रहे हैं, सोचनेकी धुनमें आपको यह भी स्मरण नहीं रहता कि आपको जिस मोड़से घूमना था, वह पीछे छूट गया। कुछ दूर आगे बढ़नेपर जब मन अपनी धुनाबुनीसे लौटता है तो चौंक पड़ता है। इसके लिये मन अपनी भूलपर पश्चाताप भी करता है।

बेमनसे जो किया जाता है उसमें मन तनिक भी रुचि नहीं रखता। संचालक मन उसे करना नहीं चाहता, किन्तु निर्णायक मन कहता है 'करना ही होगा।' फलतः विवश होकर संचालक मनको करना पड़ता है। बार-बार वह छुटकारा पाना चाहता है, मन भागता फिरता है। ऐसा कार्य प्रायः खराब हो जाता है। उसमें विलम्ब लगता है, श्रम अधिक पड़ता है। नन्हीं-नन्हीं त्रुटियोंको दूर करनेमें घण्टों लगते हैं। बुद्धि ठीक काम नहीं करती। स्पष्ट दोष भी दीख नहीं पड़ते। बार-बार झुंझलाहट होती है। कार्यका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है।

कार्यका तीसरा प्रकार है मनोयोग-पूर्वक। मनके सम्पूर्ण मार्ग उसी कार्यपर केन्द्रित हो जाते हैं। मनोयोग

जितना गाढ़ होगा, शरीरका ध्यान भी उतना ही विस्मृत हो जायगा। ऐसे समयपर वाह्यमन पूर्णतः उलट-फेर करता रहेगा। 'कैसे करनेसे अच्छा कार्य होगा'? अन्तर्मन चिरविस्मृत संस्कारोंको प्रस्तुत करेगा और निर्णायकमन बिना ठहरे ठीक और सत्य निर्णयपर पहुँच जायेगा। संचालकमन पूरी शक्तिका प्रवाह उधर कर देगा।

जो बातें कभी मनमें न आयी थीं वे सूझेंगी। आपको अपने आविष्कारपर स्वयं आश्चर्य होगा। ज्ञानका भण्डार आपके लिये खुल जायेगा। वह आपके अन्दर है, बाहर नहीं। आपकी चंचलता इसे रोकती है। मनोयोग होते ही वह प्रकट हो जायेगा। बड़े-बड़े प्रतिभाशाली और महापुरुष एवं तीव्र बुद्धि लोग कहींसे अपने अनूठे विचारोंको लाते नहीं। उनकी जीवनियोंको पढ़िये, पता लगेगा कि उनकी सफलता इसी लिये है कि वे अपने लक्ष्यपर पूर्ण मनोयोग कर लेते हैं।

मनोयोगसे कार्य करनेपर बड़ी-बड़ी पेचीदा उलझनें शीघ्र सुलझ जाती हैं। बहुत कम समय और शक्ति लगती है। भूल होती ही नहीं। प्रत्येक त्रुटि सम्मुख रहती है। कार्य सुन्दर पूर्ण और निर्दोष होता है। कार्यके करनेके नये-नये सरल और अच्छे ढंग स्वतः निकल आते हैं। छिपी शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है। ज्ञानके पानेका एकमात्र यही मार्ग है। प्रत्येक खोज मनोयोगके द्वारा पूर्ण होती है। मानसिक-साधन वह व्यक्ति कर नहीं सकता इसका अभ्यास नहीं।

कार्य कोई छोटा-बड़ा नहीं हुआ करता। महान्-पुरुषोंका यह लक्षण है कि वे प्रत्येक कार्यको मनोयोग-पूर्वक और सुन्दरतासे करते हैं। जो साधारण नित्यके छोटे कार्योंमें उपेक्षा-भाव रखता है, वह कभी महान् कार्य नहीं कर सकता। 'यह तो तुच्छ कार्य है, इसमें मनोयोगकी क्या आवश्यकता ?' यदि आप ऐसा सोचते हैं तो आप बड़े कार्यमें मनोयोग कर नहीं सकते। जो अपनी वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग नहीं करता, उससे कैसे आशा की जाये कि वह उच्च परिस्थितिका सदुपयोग करेगा। प्रकृतिमें उन्नत होनेके लिये अधिकार चाहिये। आज आपको जितने अधिकार प्राप्त हैं, यदि आप उनका सदुपयोग करते हैं तो, और अधिकार अवश्य मिलेंगे। किन्तु यदि आप उनका उपयोग नहीं करते तो उनसे भी वंचित होना पड़ेगा।

सभी कार्य मनोयोगकी अपेक्षा करते हैं। यह दूसरी बात है कि आप ऐसा नहीं करते और कार्यको बिगाड़ देते हैं। उदाहरणके लिये भोजन करना एक कार्य है। वह दूसरोंसे बातचीत करते हुए अन्नको गलेसे नीचे उतारनेसे भी होता है और धीरे-धीरे रसास्वादन करते कुचलते हुए मनोयोग-पूर्वक भी। पहली अवस्थामें वह ठीक कुचला नहीं जायेगा, चंचल मन होनेके कारण पाचक रसोंका उसमें ठीक मिश्रण न होगा, शरीरके लिये वह पूर्ण लाभदायक नहीं होगा, उलटे आमाशयको दूषित करेगा। दूसरी दशामें वह ठीक कुचला जायेगा, उसमें

उचित पाचक रस मिल सकेंगे, आपके शरीरका उसके द्वारा पूर्णतः पोषण होगा।

मनोयोग और मनोनिरोधमें कुछ अन्तर है। यह अन्तर मनोनिरोध शीर्षक प्रकरण पढ़कर आप समझ सकेंगे। जिन कार्योंमें मनकी स्वाभाविक रुचि है, उनमें सरलतासे बिना प्रयत्न मनोयोग हो जाता है। जैसे—खेल, सिनेमा आदि। अभ्यास ऐसा डालना चाहिये कि प्रत्येक इच्छित कार्यमें मनोयोग हो सके।

अध्यात्म और मन तथा मानसिक भ्रान्ति

: १६ :

आत्माका अधिगमन-प्राप्ति ही अध्यात्म है। इसके साधक होनेवाले साधनोंको आध्यात्मिक साधन कहते हैं। देखना यह है कि आत्माका अधिगमन किसे कहते हैं। परमात्मा नित्य, निरन्तर सब कहीं व्याप्त है। ऐसा एक भी स्थान नहीं जहां किसी क्षण आत्माभाव होता हो। इस नीतिसे वह नित्य व्याप्त है। आत्माकी प्राप्ति नहीं की जाती—उसका अधिगम होता है। जैसे अग्नि सब कहीं व्याप्त होनेपर भी उपलब्ध नहीं होती, इसी प्रकार प्राणिमात्रको आत्मोपलब्धि नहीं हो रही है। राखमें ढँकी अग्निको पानेके लिए जैसे राखको दूर करना पड़ता है, वैसे ही आत्मोपलब्धिके लिए चित्तके मलको दूर करना पड़ता है।

सूर्यका प्रतिबिम्ब सब कहीं किरणोंके द्वारा आता है, किन्तु उसे जल-दर्पणादिमें ही देख सकते हैं, काष्ठ-प्रस्तरादिमें नहीं। कारण यह है कि निर्मल एवं सूक्ष्मपात्र ही उसे ग्रहण करनेमें समर्थ हैं। सब कहीं व्याप्त होनेपर भी आत्माका ग्रहण इसी प्रकार केवल अन्तःकरणमें ही

हो सकता है, क्योंकि वही सूक्ष्म एवं निर्मल पात्र है। पर जैसे ढके हुये, मैले या चंचल जलमें प्रतिबिम्ब नहीं ग्रहण होता, वैसे ही चंचल (विक्षिप्त) मैला (मल-युक्त) एवं ढँका हुआ चित्त भी उस व्यापक आत्माका ग्रहण नहीं करता।

चित्तपर वासनाओंके संस्कारोंका मल, कामनाओंका विक्षेप और अज्ञानका आवरण है, इसे दूर करनेपर आत्म-प्राप्ति हो सकती है। यह सब चित्तपर हैं, अतः चित्त ही इन्हें दूर भी कर सकता है। मनके द्वारा ही संसारकी प्राप्ति हुई है और वही ईश्वर प्राप्ति करानेमें भी समर्थ है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' जीवात्माका परमात्मासे संयोग तभी होता हैं, जब चित्त-वृत्तियोंका निरोध हो जाये। यह निरोध कैसा और कैसे होता है, यह बात तो हम 'मनोनिरोध' प्रकरणमें लिखेंगे। यहाँ यह देखना है मनका अध्यात्मसे कितना दृढ़ सम्बन्ध है। साधनोंके भेद और उनकी पद्धतियाँ चाहे जितनी भी भिन्न होती हों, पर उनका मूल लक्ष्य है मनको स्थिर करना। शान्त एवं पवित्र मनमें ही परमात्माका प्राकट्य होता है।

चित्तपर तीन प्रतिबन्धक हैं परमात्माके प्रकट होनेके लिये—मल, विक्षेप और आवरण। वह कोई भी साधन हो, यदि वह तीनोंमेंसे एकको भी दूर करनेकी चेष्टा नहीं करता तो वह अधूरा है। प्रत्येक साधनके तीन अंश होते हैं—शारीरिक क्रियाएँ (इसमें आसन, पूजा, प्राणा-

याम आदि सब है) दूसरी ध्यान (चाहे कैसा भी हो) और तीसरा विचार और भाव-निर्माण। इन्हीं तीनोंके द्वारा क्रमशः तीनों प्रतिबन्धकोंका निवारण होता है। स्वतन्त्र अध्यायोंमें इन साधनोंकी आगे विवेचना होगी।

आध्यात्मिक उन्नति और मानसिक उन्नति ये पर्याय-वाची शब्द हैं। अध्यात्म मनसे ही सम्बन्ध रखता है। किन्तु मन है बड़ा चंचल। युगोंके राजस और तामस संस्कारोंको ग्रहण करके वह अपने वास्तविक सात्त्विक रूपसे दूर होकर अत्यन्त धूर्त हो गया है। वह इस प्रकार कभी-कभी साधकको धोखा देता है कि साधक समझ नहीं पाता कि वह किधर जा रहा है। उसका उत्थान हो रहा है या पतन ? मानसिक भ्रान्ति उसे एक भयानक धोखा देती है और वह लक्ष्य तक पहुँचे बिना ही अपनेको पहुँचा हुआ समझकर उद्योग छोड़ बैठता है। महर्षि पतञ्जलि इसे 'अप्राप्य भूमिकत्व' विघ्न कहते हैं। स्पष्टतया इस विघ्नको समझिये।

एक वस्तु शीघ्रतामें आपने एक स्थानपर रख दी और किसी दूसरे कार्यमें लग गये। कुछ समय पश्चात् आपको उसकी आवश्यकता पड़ी। आप स्मरण करना चाहते हैं कि आपने उसे कहां रखा। मन कहता है कि उसे चौकीपर रखा था। आपने चौकीपरकी सब वस्तुएँ देख डालीं, पूरा कमरा छान डाला, पर वह मिली नहीं। मन बराबर जोर दे रहा है कि चौकीपर ही रखी थी। आप नौकरोंपर झुंझलाते हैं, आने-जानेवालोंपर सन्देह

करते हैं और घरके लोगोंको डांटते हैं। थोड़ी देरमें वह सहसा पूजाकी कोठरीमें मिलती है। स्मरण होता है 'मैंने यहां रखा था, भूलकर चौकीपर सोचता था। व्यर्थमें नौकरोंको डांटता रहा।'

जिनकी स्मृति दुर्बल है, जिनके ज्ञानतन्तु शक्तिहीन हैं, उनको प्राय: ऐसा होता है। यह मानसिक-भ्रान्तिका प्राथमिक भाग है। बहिर्मनने वस्तुके रखते समय अत्यधिक कम ध्यान दिया। अन्तर्मन निर्बल स्नायुजालसे स्थानका पूरा संस्कार न ले सका। आपने मनपर बल दिया कि वह बताये ही कि वस्तु कहां है ? मन अपनी ओरसे एक कल्पित संस्कार रख देता है। वह उसपर तब तक दृढ़ रहता है जबतक सत्य संस्कार उसे मिल न जाये।

मानसिक भ्रान्तिका दूसरा पद है भूत। आप अन्धेरेमें जा रहे हैं, भयका संस्कार बहिर्मनको कहता है—'कहीं भूत न आ जाये।' बार-बार बहिर्मनको ऐसी सूचना देता है। फल यह होता है कि अन्तर्मनमें भूतके विषयमें जैसी कल्पना है, वह जागृत हो जाती है और बहिर्मनके सम्मुख आ जाती है। वस्तुत: भयके आवेशमें बहिर्मन इस समय अर्धसुप्त या नशेकी हालतमें हो गया होता है। उसका निर्णायक मनसे संयोग नहीं होता। संस्कारको मूर्तिमान देखते ही घबड़ाकर मन सोचता है–'यह भूत मुझे मार डालेगा' संचालक मनको ऐसी सूचना मिल जाती है। शरीरमें ऐसी क्रिया होने लगती है और मनुष्य रोगाक्रान्त हो जाता है।

चित्तपर जो संस्कार पड़ जाते हैं वे अज्ञात रूपसे अपना कार्य करते हैं। एक पात्र मेस्मरिक निद्रा लानेपर चौंक उठता है 'मेढकका' शब्द सुनते ही। इसका अर्थ यह है कि उसके जीवनको बनानेमें इस शब्दका विशेष हाथ है। बचपनमें वह इसी शब्दसे डराया गया है। इसी शब्दने उसमें भयका संस्कार डाला है। यही कारण है कि बच्चोंको व्यर्थ डराना बहुत बुरा माना जाता है।

मानसिक भ्रान्तिका अन्तिम पद है भगवद्दर्शन या आत्मसाक्षात्कारकी भ्रान्ति। वस्तुतः हमारा मुख्य प्रयोजन इसी भागसे है। लक्ष्यकी प्राप्ति या भगवद्दर्शन के दो रूप हैं, एक वास्तविक और दूसरा भ्रान्त। साधन शक्तिके द्वारा मनके पूर्णतः निर्मल होनेपर वे सर्व-समर्थ प्रभु साधकको उसके अभीष्टरूपमें दर्शन देते हैं। यह रूप मानसिक नहीं, दिव्य और शुद्ध सत्त्वमय होता है। पर साधनके मध्यमें ही साधकको उत्कट इच्छा उसके संस्कारोंको व्यक्तरूप दे देती है, साधक इसीको भगवद्दर्शन-मान लेता है, यह मानसिक भ्रान्ति है। अधिकांश लोग जो कहते हैं 'मुझे भगवद्दर्शन हुआ है' वे इसी भ्रान्तिको पाये हुये हैं। कोई भी सफल मेस्मरिक किसीको ऐसा दर्शन करा सकता है। ऐसे दर्शनोंमें हुए आदेश और भविष्यवाणियां सच निकल भी सकती हैं और नहीं भी। पहली भ्रान्तिके उदाहरणमें हम कह आये हैं कि मन अपनी कल्पनापर कैसे दृढ़ रहता है। वैसे ही वह यहाँ भी सत्यका आग्रह करता है। किन्तु मिथ्या निकलनेपर

साधकका साधन और प्रभुपरसे भी विश्वास जाता रहता है।

जबतक चित्तसे वासना और विकार नहीं चले जाते, तब तक भगवद्दर्शन नहीं हो सकता। भगवद्दर्शन होनेपर भी चित्तमें विकार उठे तो दर्शनको भ्रान्ति ही समझना चाहिये। आपके बहिर्मनने प्रबलतासे एक इच्छाका प्रकाश किया, अतः अन्तरमनमें जो उसके अनुकूल संस्कार थे, उन्हें उसने मूर्ति मानकर दिया। यह भगवद्दर्शन नहीं, यह मानसिक भ्रान्ति है। यह विघ्न है, योगदर्शनने इसीका संकेत किया है। इससे बहुत सावधान रहना चाहिये।

कुछ विशेष

: २० :

मनोविज्ञानके प्राय: अधिकांश भागोंपर विचार किया गया किन्तु कुछ विषय अब भी छूट गये हैं, मनोविज्ञानकी कुछ उलझनोंपर पूरा प्रकाश नहीं पड़ सका है। प्रकृतिमें कुछ पूर्ण तो होता नहीं, पर मनुष्य अपनी ओरसे पूर्ण करनेका प्रयत्न करे, यह उसका कर्तव्य है। शेष रहे विषयोंपर हम संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

मानसिक क्रियाओंका मूल है विश्वास, हमारी मानसिक स्थिति कुछ ऐसी होती है कि हम स्वयं अपनेमें अविश्वासके कीटाणुओंको स्थान देते हैं। एक व्यक्ति आज्ञा देकर हिमालयको सम कर सकता है, पर इसके लिये उसे अविचल विश्वास होना चाहिये–'मेरी आज्ञाका पालन होगा।' हम आज्ञा देते हुए भी यह सोचते रहते हैं कि 'हमारी आज्ञाका पालन असम्भव है, संदिग्ध है।' अत: वह आज्ञा व्यर्थ जाती है।

अविश्वासके संस्कार मनुष्यमें बहुत गहरे होते हैं। वह स्वयं उन्हें नहीं समझ पाता। पूर्ण विश्वास मनकी पूर्ण विकसित अवस्थामें ही प्राप्त हो सकता है; जब कि 'मैं ही हूँ' यह प्रत्यक्ष हो जाय। स्वामी रामकी भाँति कोई भी पूर्ण आत्म-विश्वासी घोषणा कर सकता है

'शहंशा दुनियांके हैं मुहरें मेरी शतरंजके।' जिसे मानसिक साधनोंमें योग्यता प्राप्त करनी है, उसे अपनेमें पूर्ण विश्वास लाना होगा।

लोग सोचते हैं–'भला अमूर्त मन, मूर्तपर कैसे प्रभाव डाल सकता है? स्थूल वस्तुओंको मन हटा दे, ला सके यह कैसे सम्भव है?' पर वे यह नहीं सोचते कि अमूर्त वायु मूर्त पदार्थोंको अपने वेगसे चाहे जितनी दूर उड़ा सकती है। आज अमूर्त विद्युत् गाड़ी खींचती है, कपड़े धोती है, झाड़ू देती है और सब प्रकारके दूसरे कार्य करती है। जब वायु या विद्युत् अमूर्त होकर भी मूर्त वस्तुओंको प्रभावित करते हैं, तो अमूर्त मन मूर्त जगत्में कार्य करे, इसमें कोई बाधा नहीं दिखायी देती।

एक शंकाका स्थल है—मन चाहे सूक्ष्म होनेके कारण दीवारोंको पारकर जाये, पर स्थूल वस्तुएँ तो नहीं पार कर सकतीं। वे दृष्टिसे ओझल तो नहीं हो सकतीं। उनका आकार-प्रकार, तोल प्रभृति तो नहीं घट सकता। एक बन्द सन्दूकमें एक आम कैसे पहुँच जाता है? एक बन्द कमरे या बाक्समें फूल या पाउडर किस मार्गसे आता है? छायापुरुष या कोई भी मानसिक साधन या प्रेतादि साधनमें ले जायी जाती हुई वस्तु मार्गमें क्यों दिखायी नहीं देती? ले जाते, उठाते उसे कोई क्यों नहीं देख पाता? सिद्धका स्थूल शरीर वही रहते हुए भी तौलमें कम या अधिक, छोटा या बड़ा कैसे हो जाता है।

यह सब हो जाता है इतना। तो सत्य है विज्ञान अभी

इस स्थानपर नहीं पहुँचा कि वह आकृतिकी लम्बाई, चौड़ाई, तौल और उसकी बनावटके तथ्यको स्पष्ट कर सके। शास्त्र कहते हैं कि सिद्धि प्राप्त पुरुष यथेच्छ रूप बदल सकता है, अदृश्य हो सकता है, पुष्प-सा हलका हो सकता है, पर्वत-सा भारी हो सकता है। आकृतिको वह चाहे जितना घटा या बढ़ा भी सकता है। आजके तर्ककी अभी यहाँ तक पहुँच नहीं हुई। युक्तिके द्वारा हम इसे सम्भवतः शताब्दियों बाद समझ सकेंगे।

वस्तुकी आकृति लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, ऊंचाई आदि और तौल वस्तुतः कोई स्थिर आधार नहीं रखतीं। यद्यपि हम ऐसा देखते और समझते हैं, पर मनकी जिस स्थितिके कारण उनका निर्माण हुआ है, उस स्थितिमें परिवर्तन कर देनेपर उनमें भी परिवर्तन हो सकता है। सुनते हैं कि वैज्ञानिकोंने एक ऐसे एलक्ट्रानका पता लगाया है जिसपर अधिकार होते ही प्रत्येक वस्तुमें परिवर्तन किये बिना उसे छोटी, बड़ी, हल्की या भारी किया जा सकेगा। समय ही बतायेगा कि वह एलक्ट्रान क्या और कैसा है ?

एक सूक्ष्म शक्ति जब स्थूल शक्तिको आवृत करती है तो उसे सूक्ष्म बना लेती है। उस सूक्ष्म शक्तिके पृथक् होते ही वह स्थूल वस्तु अपने आकारमें आ जाती है। जैसे जल अग्निसे अभिभूत होनेपर वाष्प हो जाता है और अग्निका अंश निकल जानेपर पुनः जल हो जाता है। मन जब किसी स्थूल पदार्थको आवृत करता है तो

भी सूक्ष्म हो जाता है, अतः वह मार्गसे दृष्टि नहीं पड़ता और बन्द सन्दूकमें भी पहुँच जाता है। ज्यों ही मन उससे पृथक् होता है, वह पदार्थ अपने पूर्वरूपमें आ जाता है।

मन आकृति और स्वभावका कारण है, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई और तौल प्रभृति भी मनके द्वारा आती हैं और मन उनमें परिवर्तन कर सकता है। इस बातको समझनेके लिये यह समझना होगा कि आकृति क्या है? आकृति-विज्ञानके अध्यायमें हम कह चुके हैं कि आकृति स्वभावका परिणाम है, उसे यहाँ स्पष्ट करना भी आवश्यक है।

आकृतिके विषयमें आजकल दो प्रकारके मत प्रचलित हैं। एक मत कहता है कि जलवायु, शीत, उष्ण प्रदेशके अनुसार वहाँके लोगोंका रंग, ऊँचाई और आकार होता है। दूसरा मत है कि आकृतिका कारण जलवायु नहीं, स्वभाव हुआ करता है। एक ही नगरमें चिरकालसे बसनेवाले एक व्यक्तिकी दो सन्तानोंमेंसे एक काली और दूसरी गोरी होती है। एक लम्बा और दूसरा छोटा व्यक्ति एक ही स्थानपर पाया जा सकता है।

आकृति-विज्ञानका एक अंश है सामुद्रिकशास्त्र। इसमें बताया गया है कि इस रंग, इस कद, ऐसे हाथ-पैर प्रभृतिका मनुष्य अमुक स्वभावका होता है। पाश्चात्य देशोंमें भी इस प्रकार आकृतिसे स्वभाव निर्णय-की प्रथा बलिष्ठ है। वे लोग तो आकारके ऊपरसे जातियोंके स्वभावका भी निर्णय करते हैं।

जलवायुका प्रभाव आकृतिपर नहीं पड़ता, यह बात मानी नहीं जा सकती। पर यह स्वभावके अनुसार आकृतिकी विरोधी नहीं है। जलवायुका प्रभाव स्वभाव-पर पड़ता है और वह आकृतिका निर्माण करता है। गर्म देशोंके लोगोंमें पित्तकी प्रधानता होगी, उन्हें उष्ण वस्तुएँ उपयोग करनेमें हिचक होगी। उनके वस्त्र, भोजनादि गर्मीको देखते हुए होंगे। ठंढे देशोंके लोगोंमें कफकी प्रधानता होगी, उनके भोजन और वस्त्र उष्ण होंगे। नम देशोंके निवासियोंमें वायुकी प्रधानता होगी। मनका निर्माण भोजनसे होता है, उसमें संस्कार माता-पितासे और आसपासकी परिस्थितिसे पड़ते हैं। अतः परिस्थितिके अनुसार स्वभाव हो जाता है जो आकृतिका निर्माता है।

जहाँ सर्द या गर्म देशोंके लोगोंकी आकृतिमें बहुत कुछ रंगादिकी समानता होती है, वैसे ही उनके स्वभावों-मे भी बहुत कुछ समानता होती है। गर्म देशका निवासी किसी ठंढ देशमें रहने लगे या ठंढे देशका गर्म देशमें रहने लगे तो उसकी सन्तान उसके वर्तमान निवासके निवासियोंकी भाँति न होगी। वह प्रायः पूर्व निवासके लोगों और पिताके अनुरूप होगी। क्योंकि पिताके संस्कार जो उसमें आयेंगे पूर्णतः वर्तमान निवासके लोगोंकी भाँति न होंगे। जब उस व्यक्तिकी वंश परम्परा-का भोजन, वस्त्र, स्वभावादि बदल नहीं जाता, तबतक उसकी सन्तानोंकी आकृति नहीं बदलेगी। संस्कार और

स्वभावमें जैसे-जैसे परिवर्तन होता जायेगा, आकृतिमें परिवर्तन होता जायेगा।

दो स्वभाव और संस्कारकी जातियाँ एक ही देशमें रहते हुए भी आकृतिमें पृथक्ता रखती हैं। अमेरिकामें प्रायः एक ही समय योरोपके भिन्न-भिन्न देशोंके लोग जा बसे, पर उनकी सन्ततिकी आकृतिमें अबतक अन्तर है। भारतमें हिन्दू और मुसलमान आकृतिसे पहचाने जा सकते हैं, यदि मुसलमान कोई खान्दानी मुसलमान हो। उसकी एक दो पीढ़ीसे ही यह धर्म न ग्रहण किया गया हो और उसके पूर्वजोंने हिन्दू रहन-सहन न बना लिया हो। आकृतिका यह भेद स्वभावकी विभिन्नतासे होता है। चिरकालसे दूसरे देशोंमें रहनेवाली आर्य-जातिकी पहचान उसकी आकृतिसे होती है। देशकी स्थिति उसे अब भी बदल न सकी, क्योंकि उनके अन्तर्मनमें परंपरागत संस्कार अब तक कुछ न कुछ चले आ रहे हैं।

पिता और माताके संस्कार पुत्रमें आते हैं। गर्भस्थ बालक पर माताके विचार, रहन-सहन, भोजन तथा सुख-दुःखादिका प्रभाव पड़ता है। गर्भाधानके समय तक पितामें जो संस्कार होते हैं और उस समय जो संस्कार प्रबल होते हैं, वे वीर्यके साथ गर्भमें पहुँचते हैं। माताके विचार, संस्कार, भोजनादि उसे प्रभावित करते हैं। इस प्रभावसे प्रभावित होनेपर वीर्यस्थ पिताके संस्कारों-का जो रूप होता है, वही बच्चेकी आकृतिका निर्माण करता है।

एक ही देश, एक ही जाति, एक ही स्थानके लोगोंमें कभी कभी ऐसी सन्तति देखी गयी है जो जलवायुकी दृष्टिसे उस आकृतिकी नहीं होनी चाहिए। एक ही पिताकी सन्तानोंमें भी महान् अन्तर हो जाता है। इस अन्तरका कारण पिताके विचारों तथा माताके विचार, भोजन एवं रहन-सहनका परिवर्तन है।

प्रायः देखा गया है कि जुड़वां उत्पन्न हुये बच्चोंकी आकृतियाँ समान होती हैं। उनमें बहुत कम अन्तर होता है। जैसे एक वृक्षके दो पत्ते ठीक एक सदृश नहीं होते, वैसे ही उन बच्चोंमें भी कुछ अन्तर होता है। वे उदरमें एक ही विन्दुपर तो होते नहीं। किसीपर किसी अंतड़ीका अधिक दबाव पड़ जाता है, किसीपर नहीं पड़ता। किसीकी बगलमें पित्त-कोष होता है और किसीके पास कफ-कोष। माता जिस बगल लेटेगी उधरके बच्चेपर कुछ दबाव पड़ेगा। यही सब परिस्थितियां उन बच्चोंकी आकृतिमें भिन्नता ला देती हैं।

मनोविज्ञान बतलाता है कि जन्मसे पुरुष पिताके संस्कारों, तथा माताके विचार, भोजनादिके प्रभावके अतिरिक्त कोई दूसरा संस्कार लेकर नहीं आता। यदि उसमेंसे निकाल दिया जाय तो सब पुरुष जन्मसे समान होते हैं। उनमें कोई कविकी प्रतिभा, कोई महापुरुषोंकी क्षमता या कोई माध्यमकी योग्यता लेकर नहीं उत्पन्न होता।

'कल्याण'के मानसांकमें अयोध्याके श्रीविन्दु ब्रह्मचारी

जीने एक इस विषयके पाश्चात्य अन्वेषणका उदाहरण दिया है—एक स्त्रीकी दो जुड़वां उत्पन्न हुई लड़कियोंको एक ही भोजन दिया गया। उन्हें सदा एक साथ रखा गया। वे एक कमरेमें रहती थी और उनके भोजनादिका प्रबन्ध भी एक ही नौकर करता था। उन्हें एक ही प्रकारकी शिक्षा दी गयी। अन्तमें उन्हें एक प्रश्न दिया गया और उन्हें पृथक् पृथक् कमरोंमें उत्तर लिखनेको बैठा दिया गया। निरीक्षकोंने आश्चर्यसे देखा कि उनके उत्तर, उत्तरकी भाषा ही नहीं बल्कि विराम, विन्दु प्रभृति चिह्न भी एक ही प्रकारके हैं।

यह जांच ठीक न भी होती तो कोई सिद्धान्त न बनता। दो व्यक्तियोंकी मानसिक परिस्थिति एक रखना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। तनिक भी विचार मनके पूर्व संस्कारोंको प्रभावित करके एक क्रान्ति मचा दे यह संभव है। कल्पना कीजिये कि उपरोक्त जाँचके लिये चुनी लड़कियोंमेंसे एकका ध्यान एक समय किसी ओर जैसे सिनेमाके विज्ञापनके बाजेकी ओर या कमरेमें लगे मकड़ीके जालेकी ओर जाता और दूसरीका नहीं। इस प्रकारका कोई संस्कार केवल एकमें पहुंचना कठिन नहीं। ऐसे संस्कारोंको रोका नहीं जा सकता। जिसमें वह संस्कार पहुंचता उसके पुराने संस्कारोंको प्रभावित करता। दूसरीमें वैसा कोई परिवर्तन न हो पाता, यहींसे दोनोंके स्वभावकी धारा दो हो जाती।

इस प्रकारकी कोई बात न होनेसे जाँचका परिणाम

ठीक निकला और उसने बताया कि मनुष्य जन्मसे कुछ लेकर नहीं आता। प्राक्तन संस्कार जैसी कोई वस्तु यदि जीवके साथ आती है तो वह पिताके संस्कार और माताके संस्कारोंसे आती होगी। पिताके रोग पुत्रमें आते हैं, अतः पिताके संस्कार भी आते हैं यह तो मानना ही होगा। गर्भमें बच्चेपर माताके आहार और विचारका प्रभाव पड़ता है।

उत्पन्न होनेके पश्चात् परिस्थिति जैसी मिलती जाती है, पिता मातादिसे लाये संस्कारोंमें वैसे परिवर्तन होते जाते हैं। इसी प्रकार जीवन किसी ओर ढलता है। माताके भोजनका प्रभाव दूध पीनेतक बच्चेपर पड़ता है। फिर उसपर भोजनका प्रभाव पड़ता है। अपने आसपास होनेवाली घटनाओं, साथियोंके संग, बड़ोंके चरित्र, उनकी शिक्षा और अध्ययन, इन सबके द्वारा पुरुषके जीवनका निर्माण होता है।

कभी कोई एक ही घटना या बातका संस्कार मनमें इतना दृढ़ हो जाता है कि वह जीवनकी दिशा बदल देता है। जैसे एक व्यक्तिने किसीको मरते देखा, उसे मृत्युसे तीव्र भय लगा और वह साधनमें लग गया। एक व्यक्ति अपमानित हुआ, उसने बदला लेनेका निश्चय किया। बदला लेनेकी भावनाने उसे अन्तमें डाकू बना दिया।

प्रकृतिसे जो बुद्धि, लगन, वीरता, विचारशीलता, भावुकता प्रभृति शक्तियाँ मिलती हैं, वे सबमें समान होती हैं। कोई प्रतिभाशाली और कोई मूर्ख, कोई भावुक

और कोई हृदयहीन, कोई लगनका और कोई चंचल नहीं होता। पर परिस्थितिके अनुसार उसमें जैसे संस्कार पड़ते जाते हैं, वे उसकी इन शक्तियोंको एक ओर चला देते हैं। संस्कारोंके अनुसार वह शक्ति किसी विशेष ओर प्रवाहित होने लगती है। परिस्थिति जिन्हें बराबर उन्हें चलनेका अवसर देती है वे बीर, कवि, बुद्धिमान् और महापुरुष हो जाते हैं और दूसरे जिन्हें विरुद्ध परिस्थिति घसीटती है वे मूर्ख, हृदयहीन कहे जाते हैं। परिस्थिति ही पापी, पुण्यात्मा, महापुरुष, मूर्ख तथा और भी जो कुछ कोई हो सकता हैं, उसे बनाती है।

एक व्यक्ति सुन्दर पर्वत माला देखकर गद्गद हो उठता है; पर दूसरेको वहाँ पत्थरोंके अतिरिक्त कुछ नहीं दिखायी पड़ता। पर इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरेमें भावुकता नहीं। सजी हुई सेना देखकर सम्भव है कि वह उससे भी अधिक प्रसन्न हो। एक चित्रकार एक चित्रमें जो सौन्दर्य देख पाता है, वह दूसरेको रंगोंसे पुता कागज जान पड़ता है। पर दूसरेमें कलाका अभाव नहीं, गम्भीर युक्तिपूर्ण काव्यकी एक पंक्ति लट्टू कर सकती है।

आप जिसे कायर या डरपोक समझते हैं वे अपने प्रिय पुत्र या प्राणपर आपत्ति आनेपर खाली हाथ सिंह-से भिड़ पड़े यह असम्भव नहीं। युद्धका प्रसिद्ध वीर अपनी प्रेमिकाकी कठोर भ्रू देखते ही काँप उठता है। वीरता और भय दोनोंमें हैं, पर उनका श्रोत संस्कारोंने भिन्न-भिन्न दिशामें बाँट रखा है।

संसारका सबसे बड़ा दार्शनिक नहीं जानता कि अखाड़ेमें कौनसे दावसे प्रतियोगी परास्त होगा। वह इस विषयमें सर्वथा मूर्ख है। आप जिसे मूर्ख कहते हैं कुछ ऐसे विषय हैं, जिनमें उसकी बुद्धि सीमाकी चतुरता दिखाती है। जिसे आप चंचल विद्यार्थी कहते हैं, वह पढ़नेमें भले चंचल हो, पर खेलमें आप उसकी तन्मयता-को प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

कुछ ऐसे प्रारब्धके मारे होते हैं कि उन्होंने जन्मसे जो स्वाभाविक रुचि पायी है; उसके विकासका उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। उन्हें संसारमें ठीक विरोधी परिस्थिति मिलती है। उनकी बुद्धि, प्रतिभा शक्ति कुछ भी उधर नहीं लग पाती। व्यक्तित्वहीन अर्द्धपागलसे दूसरेकी आज्ञाओंके यन्त्र और जीवन-निर्वाहके लिए दूसरों-पर आश्रित ऐसे मनुष्योंकी कमी नहीं। प्रायः सभी कहीं वे पाये जाते हैं।

यदि अभिभावक बच्चेकी ठीक रुचिको समझ सकें और उसे उसके अनुकूल परिस्थिति तथा उत्तेजन दें तो वह कभी इस उपरोक्त दीन दशामें न पहुँचे। यदि उसकी मानसिक स्थितिको संसारमें विकासका अवकाश मिले तो प्रत्येक व्यक्ति महापुरुष हो सकता है। महापुरुषमें जो कुछ होता है, वह प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनके साथ लाता है।

मानसिक शक्तिके साधन विशेषकर मेस्मराइज्म और हिप्नाटिज्मका यही उद्देश्य था कि उसके द्वारा

बालकोंकी मानसिक स्थितिका अध्ययन किया जाये। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तिका ज्ञान स्पष्टतः सम्मोहित दशामें हो सकता है। जागृत दशामें इसका पता लगा लेना बहुत अधिक विज्ञ मनोवैज्ञानिकके लिये ही सम्भव है। सम्मोहित दशामें स्वाभाविक प्रवृत्तिका पता लगाकर बच्चेको उसी प्रकारके कार्योंमें लगानेपर वह अच्छा धीर, लगनशील और प्रतिभाशाली सिद्ध होगा।

स्वाभाविक प्रवृत्ति अधोगामिनी या उर्ध्वगामिनी नहीं होती। परिस्थिति उसे ऐसी बना देती है। रुचिको जानकर अनुकूल वर्तावसे उसे यथेच्छ उच्च किया जा सकता है। एक व्यक्तिकी रुचि विनोदी है। कुसंगमें पड़कर वह जुआरी हो जायगा। उसे विश्वविख्यात खिलाड़ी बनाया जा सकता है। एक लड़का रहस्यभेदमें रुचि रखता है। यदि उसे अनुकूल परिस्थिति न मिले तो वह चोरी करने लगेगा। पर ठीक ढंगसे उसकी रुचिका उपयोग हो तो वह प्रसिद्ध जासूस बनेगा।

आज जो डाकू हैं, वे वीर सैनिक बन सकते थे। जो गप्पें लड़ाते हैं वे कवि या दार्शनिक बनाये जा सकते थे। जिन्हें आलसी कहा जा रहा है वे बैठकर बड़ी लगनसे कोई कार्य कर सकते थे। कामी कहानेवाले बड़े कुशल कलाकार परिस्थिति मिलनेपर बनते। पर रुचिके ठीक उपयोग न होनेसे उनका जीवन नष्ट हो गया।

बहुधा लोग अपनी रुचिको स्वयं ही नहीं समझ

पाते। मनुष्यको सबसे पहले यह देखना चाहिये कि वह चाहता क्या है? परिस्थितिको भूल जाओ, एकान्तमें बैठकर मनको कल्पना करनेके लिये छोड़कर देखो कि अधिकसे अधिक वह किस बात तक पहुंचता है? परिस्थिति मनुष्यको अवश्य बनाती है, परन्तु मनुष्य परिस्थितिको बना सकता है। मनुष्यकी मनुष्यता यही है कि वह परिस्थितिपर विजय पाये। कितनी भी विपरीत परिस्थिति हो, पर स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुकूल उच्च उद्देश्य लेकर दृढ़तासे प्रयत्न करनेवाला और सदैव अनुकूल स्थितिसे लाभ उठानेको सतर्क रहनेवाला अवश्य अपने लक्ष्यको पायेगा। उसका जीवन महान् बनकर रहेगा।

परिस्थिति और प्रवृत्तिकी प्रधानताका वर्णन यह कभी अर्थ नहीं रखता कि वही सब कुछ हैं। मनकी शक्तिकी प्रधानताका भी यह अर्थ नहीं कि विश्वमें केवल मनकी ही एक शक्ति है। हमें विश्वनियन्ताको नहीं भूलना चाहिये। विश्वकी प्रधान शक्तियोंको भी हम भूल नहीं सकते।

हम व्यष्टि और समष्टिके परिचयमें बतालाये हैं कि यह शरीर सहस्रों कीटाणुओंकी समष्टि है। इसी प्रकार हम इस विशाल विश्वरूप शरीरके कीटाणु हैं। उस सर्वेशके लिये यह ब्रह्माण्ड एक कीटाणुसे अधिक नहीं। उसके एक-एक रोमकूपमें करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं।

हमारे पास परीक्षाका साधन होता तो हम देख पाते

कि हमारे शरीरके प्रत्येक कीटाणुमें शरीरको नष्ट कर देने, स्वस्थ कर देने या परिवर्तित कर देनेकी शक्ति है। है वह शक्ति सीमित; वह शरीरसे बाहर कुछ नहीं कर सकती। साधारण कीटाणुकी अपेक्षा ज्ञान-सूत्रोंके केन्द्र विशेष अधिक शक्ति रखते हैं और वे कीटाणुओंको यथेच्छ प्रभावित कर सकते हैं।

हमारी भी ठीक यही दशा है। हम अपने ब्रह्माण्डमें ही सब कुछ करनेकी शक्ति रखते हैं। हमारी मानसिक शक्ति यद्यपि विश्वके निर्माण और प्रलयमें समर्थ है, पर वह इस विश्वतक सीमित है। वह सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् है। हमारे शरीरकी भाँति विश्वमें भी शक्तिके केन्द्र हैं। हम उन केन्द्रोंको देवता कहते हैं। ये हमें प्रभावित करनेमें समर्थ हैं, यह बात हमें नहीं भूलनी चाहिये।

यह ठीक है कि शरीरका प्रत्येक अणु शरीरको नाश करनेकी शक्ति रखता है, पर शक्ति रखनेमात्रसे वह ऐसा करनेमें समर्थ नहीं। उससे अधिक शक्तिके केन्द्र हैं, सबसे बड़ी शक्ति तो समस्त शरीरके अधिष्ठाता मनकी है। यदि कोई अणु अपनी शक्तिसे शरीरको हानि पहुँचाने लगे तो उच्च केन्द्र उसे दण्ड देंगे। वह शक्तिहीन कर दिया जायेगा; किसी कारणसे वह उच्च केन्द्रोंसे न दबे तो हमें स्वयं प्रवृत्त होना पड़ेगा। चाहे जैसे दवासे चीरफाड़से कैसे भी हो, हम उसे अवश्य नष्ट कर देंगे। पर यदि वह शरीरकी उन्नति करे तो उच्च केन्द्र और हम सब उसे सुविधातक शक्ति देंगे।

विश्वमें भी यही स्थिति है। हम संसारमें अनर्थ फैलायें तो दिव्य-शक्तियां हमारा दमन कर देंगी। जो शक्तिशाली दैत्य देवताओंसे भी प्रबल हो गये, उनके लिये स्वयं विश्वेश अवतीर्ण हुये और उन्हें नष्ट कर दिया गया। जो विश्वकी सेवामें अपनी शक्ति को लगाते हैं. जो संसारमें सद्भाव प्रस्तारित करते हैं, उन्हें दैवी शक्तियां सहायता देती हैं। विश्वेशकी कृपा उन्हें प्राप्त होती है।

व्यष्टि-मानसका इस प्रकार समष्टिसे साम्य एवं समन्वय स्थापित करना भारतीय मनोविज्ञानकी अपनी विशेषता है। यही विशेषता उसे अध्यात्मकी ओर प्रवृत्त करती है।